

ISSN 0975-850X

अनुसंधान शोध त्रैमासिक

जुलाई-दिसम्बर (संयुक्तांक)2015

सम्पादक

डॉ. शगुफ़्ता नियाज़

सलाहकार सम्पादक

डॉ. एम. फ़ीरोज़ अहमद

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली से सहयोग प्राप्त

अनुसंधान पत्रिका अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध www.vangmay.com

परामर्श मण्डल

प्रो. रामकली सराफ (बी.एच.यू.)

प्रो. एस. के. पवार, (धारवाड़)

मूलचन्द सोनकर (वाराणसी),

डॉ. मेराज अहमद (अलीगढ़)

डॉ. सलीम मुजावर, (गुलबर्गा)

सम्पादकीय कार्यालय :

205- ओहद रेजिडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002

vangmaya@gmail.com, shaguftaniyaaz@gmail.com Mob- 09044918670

सहयोग राशि : एक प्रति 50 रु.

व्यक्तिगत पाँच वर्ष के लिए : 1000/-, द्विवार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए : 450/-, व्यक्तिगत आजीवन सदस्य : 2000/- (दस वर्ष के लिए), संस्थाओं के लिए आजीवन : 2500/- (दस वर्ष के लिए)

सह-सम्पादक :

डॉ. सरफराज अहमद
डॉ. मो. शमीम

कानूनी सलाहकार :

एम. एच. खान, एडवोकेट(हाईकोर्ट, इलाहाबाद)
एम. ए. खान, एडवोकेट(हाईकोर्ट, इलाहाबाद)

सम्पादन सहयोग :

- यूसुफ अली (अलीगढ़)
- नदीम अहमद नदीम, बीकानेर, 9461911786
- रविशंकर शुक्ला, दार्जिलिंग, 9614889086
- गौतम सिंह राणा, बर्द्धवान, 9933735710
- संगम वर्मा, लुधियाना, 9463603737
- इंद्रजीत पासवान, पंजाब, 9814479933
- मनीषा, लुधियाना, 9780680169
- राहुल कुमार, सांगरूर, 9592395929
- सोनिया माला, संतनम नगर, 9815193355
- गगनदीप कुमार, फंजिका, 9465383480
- रेनू, इस्लामगंज, 9023499059
- मो. रफी, अहमदगढ़, 9876664606
- डॉ. शंकर, गुलबर्गा, 9164109546

शुल्क भेजने का पता : बैंक ड्राफ्ट : 'डॉ. शगुफ़्ता नियाज़' या 'अनुसंधान' के नाम

205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002 (उ.प्र.)

सम्पादन/संचालन :

• अनियतकालीन, अवैतनिक और अव्यावसायिक। • रचनाकार की रचनाएँ उसके अपने विचार हैं। • रचनाओं पर कोई आर्थिक मानदेय नहीं दिया जाएगा। • लेखकों, सदस्यों एवं मित्रों के आर्थिक सहयोग से पत्रिका प्रकाशित होती है। • उनसे सम्पादक प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। • किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र अलीगढ़ होगा। • अलीगढ़ से बाहर का चेक स्वीकार नहीं होगा।

डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ की ओर से डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ द्वारा प्रकाशित, डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ द्वारा मुद्रित तथा रुचिका प्रिंटर्स दिल्ली में मुद्रित एवं 205 ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़ (उ.प्र.) से प्रकाशित।

सम्पादकीय

नित नये विमर्शों के इस दौर में साहित्य का तेवर भी बदला है, कलेवर भी बदला है और सरोकार भी बदले हैं। परिस्थितियों ने साहित्य को समय की माँग के अनुरूप परिवर्तनशील, मुखर और धारदार बनाया है। अब साहित्य समाज के दर्पण की भूमिका में नहीं रह गया है बल्कि समाज इसकी चिन्ता और चिन्तन के केन्द्र में स्थापित हो चुका है। अब वह समाज के पथ-प्रदर्शक की भूमिका में आ गया है। आज का साहित्य गतिवान्, सार्थवान् और सामर्थ्यवान् बने रहने के लिये समाज से ही अपनी ऊर्जा ग्रहण करता है। उसकी कथावस्तु में समाज ही अभिव्यक्त होता है। पात्र और घटनाएँ काल्पनिक न होकर समाज से उठायी जाती हैं। विमर्शमूलक साहित्य की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने साहित्यकार को समाज के प्रति उत्तरदायी बनाया है।

भारतीय समाज की विलक्षण और वर्चस्ववादी बनावट के कारण ही विमर्शमूलक समाज अस्तित्व में आया। लोकतंत्र की स्थापना और सबके लिये शिक्षा की उपलब्धि और पहुँच ने इसे उर्वर बनाने के लिये खाद-पानी का काम किया। अपने मानवोचित अधिकारों से वंचित अधिसंख्य समाज को जब लोकतांत्रिक वातावरण में साँस लेने का अवसर मिला तो उसके अन्दर अपने सभी लोकतांत्रिक अधिकारों को वापस पाने की ललक एवं छटपटाहट पैदा हुई और उसने कलम उठा लिया। इसलिये विमर्शमूलक साहित्य को स्थापित मान्यताओं और परम्पराओं के विरोध एवं खण्डन का साहित्य अथवा सामाजिक न्याय की पैरोकारी का साहित्य कहा जा सकता है। तमाम जटिल बौद्धिक अवरोधों के बावजूद इस साहित्य ने अपने विरोधियों से अपना लोहा मनवा लिया है और वे न केवल इसका अस्तित्व स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं बल्कि अपना पारम्परिक लेखन छोड़कर विमर्शमूलक लेखन में हाथ आजमाने के साथ ही साथ पारम्परिक साहित्य को विमर्श का साहित्य सिद्ध करने में एड़ी-चोटी का दम लगा रहे हैं। लेकिन विमर्शमूलक साहित्य से उपजी चेतना ने भारतीय समाज के इस एकाधिकारी चरित्र को निर्णायक चुनौती देकर उसे कटघरे में खड़ा किया। प्रत्येक वंचित तबके ने अपने अन्दर से अनेक

जुझारू एवं तार्किक साहित्यकारों को पैदा किया। ये साहित्यकार जहाँ अपने-अपने तबके की कठिनाइयों और वंचितकरण को रेखांकित करके उन्हें उनके लोकतांत्रिक अधिकारों को दिलाने लिये उनमें चेतना का संचार कर रहे हैं वहीं साहित्यिक जगत में खाली पड़े बहुत बड़े स्थान को भरने का काम भी कर रहे हैं। इतना ही नहीं, वे समुदायोन्मुखी साहित्य और साहित्यकारों की आवश्यकता, उपयोगिता और सार्थकता भी सिद्ध कर रहे हैं।

यद्यपि मुस्लिम साहित्यकारों द्वारा लिखे जा रहे साहित्य को दलित साहित्य या दलित विमर्श अथवा स्त्री साहित्य या स्त्री विमर्श की तर्ज़ पर मुस्लिम साहित्य या मुस्लिम विमर्श का नाम नहीं दिया गया है और न ही मुस्लिम साहित्यकारों की तरफ़ से इस प्रकार का कोई दावा या माँग ही की जा रही है लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं है कि वे जो भी लिख रहे हैं उसमें वैमर्शिक तत्त्व भरपूर हैं। उनका साहित्य और वे स्वयं मुस्लिम समाजोन्मुखी हैं। उनके लेखन में मुस्लिम समाज की पीड़ाओं की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है। भारत विभाजन इस देश की सबसे बड़ी ऐतिहासिक त्रासदी है। इसने देश ही नहीं हिन्दू-मुसलमान के मन को भी स्थायी रूप से बाँट दिया है। कोढ़ में खाज यह है कि आज भी मुसलमान ही इसके लिये दोषी ठहराया जाता है, बाहरी समझा जाता है, शक की निगाहों से देखा जाता है, उससे बार-बार यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी निष्ठा प्रमाणित करता रहे। राजनीतिज्ञ ही नहीं साहित्यकार भी इस मनःस्थिति से उबर नहीं सका है। गंगा-जमुनी संस्कृति का ढिंढोरा ज़ोर-शोर से पीटने वाला हर गैर मुस्लिम साहित्यकार यही चाहता है कि इस नायाब ज़िम्मेदारी का बोझ सिर्फ़ मुसलमान ही अपने सर पर ढोता फिरे। कहने का मतलब यह है कि मुसलमान का हर कदम सिर्फ़ और सिर्फ़ इम्तहान देने के लिये ही उठता है और उसके हर कदम को भटका हुआ ही साबित किया जाता है वह चाहे कितना ही सधा हुआ क्यों न हो। यदि यह कहा जाय कि एक सहमी हुई कौम में तब्दील कर दिया गया है मुसलमानों को इस देश में तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

अनुक्रम

बलराम

समकालीन कवयित्रियों का स्त्री-विमर्श/6

मंजू बाला

सांस्कृतिक परिवेश के संदर्भ में श्री नरेश मेहता का साहित्य/11

सतीश कुमार

तमस और साम्प्रदायिकता की समस्या/15

नीलम रानी

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यासों में चित्रित समस्याएँ/19

संजीव कुमार विश्वकर्मा

भक्तिकालीन सामाजिक आन्दोलन और कबीर का गतिशील नेतृत्व/22

मीनाक्षी

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक मूल्यों का विघटन/26

राहुल शर्मा

समकालीन कविता और चन्द्रकान्त देवताले का काव्य (खुद पर निगरानी का वक्त के विशेष संदर्भ में)/30

ज्योति

विवेकीराय के ललित निबंधों में लोक संस्कृति का चित्रण/33

आरती

लोक मान्यता और श्रीनरेश मेहता का साहित्य/37

ख्याति सोनी

लोकजीवन के प्रखर गायक अष्टछाप के कवि सूरदास/41

डॉ. व्ही. आई. शेख

नई सदी की कविता : स्त्री विमर्श/45

डॉ. मीनू अवस्थी

हिन्दी भाषा शिक्षण में मल्टीमीडिया की भूमिका/47

जय प्रकाश पाण्डेय

स्कंदगुप्त में राष्ट्रीय विमर्श के प्रश्न/49

डॉ. सीमा रायकवार

बुन्देली लोक संगीत/52

दीपमाला कोरी

महिला उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श की झलक/54

गणेश शर्मा

दलित मुक्ति-चेतना और अम्बेडकर/57

डॉ. पूजा

नासिरा शर्मा के उपन्यास साहित्य का परिचय/60

रिंकल उपाध्याय

भोजपुरी के लोकनाटकों में व्याप्त सांस्कृतिक चेतना/64

गौतम कुमार भारती

अक्षर अनन्य के साधना का उद्देश्य/66

सुमन रानी

नरेन्द्र मोहन का काव्य : नारी संवेदना/68

लक्ष्मी शर्मा

कविवर उदयभानु हंस का काव्य : मानवतावादी दृष्टिकोण/72

सौरभ कुमार

नागार्जुन की लोक चेतना/76

श्रुति सुधा आर्या

अभिमन्यु अनंत के काव्य में मानव मूल्य/79

मोनिका हंस

श्री हित ध्रुवदास के काव्य में प्रेम का स्वरूप/83

डॉ. मंजू बाला

जन-संवेदना से सराबोर हिन्दी नवगीत/88

लवलीन कौर

हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धकार : कुबेरनाथ राय : एक परिचय/92

डॉ. शालिगराम अहिरवार

सामाजिक चेतना : श्रीरामकृष्ण परमहंस के परिप्रेक्ष्य में/95

डॉ. कामिनी साहिर

प्रवास के दर्द का प्रामाणिक दस्तावेज – बसरा की गलियाँ/98

MAMTA

Love as guiding principle of life in D.H. Lawrence's Novel/101

MALA KAPOOR

DIASPORIC STRAINS IN JHUMPALA HRI'S NOVEL 'NAMESAKE'/103

Ms. ANAMIKA

BHARTI MUKHERJEE'S PROTAGONISTS PORTRAYED AS LIVING IN ORIENTAL AND OCCIDENTAL CULTURAL DILEMMA IN EMANCIPATION/109

POOJA KAPOOR

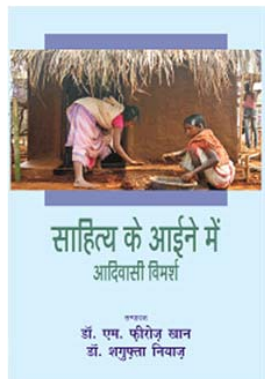
Capturing the Quintessential pathos at the intersection of cultures in Kiran Desai's "The Inheritance of Loss"/113

Dr. NEELAM BHARDWAJ

Existential Crisis of Identity in Kiran Desai (A study of 'The Inheritance of Loss')/117

वाङ्मय बुक्स, अलीगढ़

9044918670



समकालीन कवयित्रियों का स्त्री-विमर्श

बलराम

अबला जीवन हाय तेरी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी

उक्त पंक्तियाँ भारतीय समाज में महिलाओं की वास्तविक स्थिति को चित्रित करती हैं। अनादिकाल से ही पुरुष ने शारीरिक बल का प्रयोग कर महिलाओं को अपने अधीन रख उन्हें प्रताड़ित किया तथा औरत धरती की भाँति सब कुछ सहन करती रही है। समय-समय पर अनेक प्रतिबन्ध उस पर लगाए गये व अनेक कुप्रथाओं का वह शिकार हुई और अंदर ही अंदर घुटती-पिसती रही तथा सहन करती रही सब कुछ। शिक्षा के अधिकार से भी उसे वंचित रखा गया। महिलाओं की इच्छाओं, आकांक्षाओं को दबाकर उनकी (महिलाओं की) स्वतंत्रता को प्रतिबंधित कर दिया गया। उसे मात्र भोग्या बना दिया गया और वह केवल पुरुष की आवश्यकतापूर्ति का साधन बनकर रह गई। वेदों, उपनिषदों आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में स्त्री-विषयक ऐसी व्याख्याएँ की जाती रही जो उसे उत्तरोत्तर और अधिक प्रतिबंधित करती रही। उसे आदर्श बेटी, आदर्श बहन, आदर्श पत्नी, आदर्श माँ के साँचे में फिट करने की पुरजोर कोशिश निरंतर की जाती रही किन्तु किसी ने नहीं सोचा कि आखिर वह स्वयं क्या चाहती है? उसकी क्या आकांक्षाएँ-इच्छाएँ हैं? सदियों तक उसका शारीरिक एवं मानसिक शोषण होता रहा, परन्तु युग परिवर्तन के साथ महिलाएँ अपनी शक्ति एवं अधिकारों के प्रति जागरूक होती गयी तथा इन बन्धनों को तोड़ने हेतु छटपटाने लगी। भारतीय समाज की बात करें तो सर्वप्रथम यह छटपटाहट मीराबाई में सर्वाधिक परिलक्षित होती है। जिसने समाज की सभी अनुचित मर्यादाओं को तोड़-मरोड़ कर भक्ति के माध्यम से महिलाओं को जागरूक करने का प्रयास किया तथा तत्कालीन सर्वप्रमुख कुप्रथा 'सती प्रथा' का उल्लंघन कर सती होने से इनकार किया। 'कोई नौदों कोई बिन्दी में चलूंगी चल अपुठी', 'लोक लाज कुलरा मर्यादा जगमा पेक ना राख्या री' आदि पंक्तियाँ उनके सामाजिक विद्रोह को प्रकट करती हैं।

1857 ई. के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में लक्ष्मीबाई की वीरता ने साबित कर दिया कि महिलाएँ शारीरिक रूप से भी कमजोर नहीं हैं। वे महिलाओं के लिए आजतक भी प्रेरणा स्रोत हैं। आधुनिक युग में हुए परिवर्तनों एवं कुप्रथाओं का अंत होने के कारणवश महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। ज्यों-ज्यों वे (महिलाएँ) शिक्षित होती गयी त्यों-त्यों उन्होंने औरतों पर होने वाले अत्याचारों, उनके मानसिक एवं शारीरिक शोषण का विरोध करना शुरू कर दिया तथा अपने अधिकारों के प्रति जागरूक, सचेत होती चली गयी। भीमराव आंबेडकर ने कहा था कि 'शिक्षा शेरनी का दूध है जो इसे पीएगा वह दहाड़ेगा जरूर' और महिलाएँ आज शेरनी के इस दूध का पान भी कर रही हैं तथा दहाड़ कर अपनी उपस्थिति भी दर्ज करा रही हैं। सिमोन दा बोउवार, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, मृदुला गर्ग, कृष्णा सोबती, कात्यायनी, सविता सिंह, महाश्वेता देवी, इंदु जैन, अनामिका आदि इनमें प्रमुख हैं। शोभा निम्बालकर नारीवाद को सामाजिक अन्याय के विरुद्ध प्रतिक्रिया मानती हैं, "नारीवाद नारी के प्रति हो रहे सामाजिक अन्याय के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में उभर कर आया। इसमें नारी के शैक्षिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं संवैधानिक अधिकार की माँग की जाती है। इस प्रकार अपने मूल चिंतन में नारी-विमर्श एक विचार मात्र नहीं रह जाता है, वह एक जीवन दृष्टि और जीवन पद्धति का संयोजन बन कर भी आता है।"¹

स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श एवं आदिवासी-विमर्श आधुनिक हिंदी साहित्य के ज्वलंत मुद्दे हैं, जिन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता। शताब्दियों से इन तीनों (स्त्री, दलित, आदिवासी) के साथ ही न्याय नहीं हुआ है। इन्हें प्रत्येक स्थान पर दबाया-कुचला गया तथा प्रत्येक क्षण इनका शोषण होता रहा है। इन तीनों में भी स्त्री-विमर्श सर्वाधिक संवेदनशील है क्योंकि स्त्री चाहे स्वर्ण जाति की रही हो या दलित व

आदिवासी प्रत्येक स्थान उसी का शोषण सर्वाधिक हुआ है। समकालिक साहित्य में स्त्री के इसी शोषण को, उसकी उपेक्षिता को काव्य-विषय बनाया गया है। 'स्त्री-विमर्श' विषय है भी व्यापक। दलित-विमर्श जहाँ भारतीय उपमहाद्वीप तक सीमित है, वहीं आदिवासी एवं अश्वेत-विमर्श कुछ देशों तक जबकि स्त्री विमर्श सम्पूर्ण विश्व में आलोचना का विषय है। महिलाएं पृथ्वी पर आबादी का लगभग आधा हिस्सा हैं, उसके पश्चात् भी उनके साथ सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्तर पर न्याय नहीं हो सका। सदियों तक उसे गुलाम की तरह रखा गया तथा अपनी आवश्यकतानुरूप उसे ढाला गया। उसे कुछ अधिकार दिए भी तो सीमित रूप में, "पुरुष ने सभ्यता के आदिकाल से ही अपनी शारीरिक शक्ति के कारण अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। उसने जो धर्म बनाये, जिन मूल्यों ...जिन आचरणों को मान्यता दी, वे सब उसकी अपनी सुविधा के लिए थे। उसके इस एकछत्र राज्य को औरत ने पहले कभी चुनौती नहीं दी। कहीं-कहीं कुछ महिलाओं ने व्यक्तिगत रूप में आवाज़ उठाई, कुछ आन्दोलन भी हुए किन्तु पुरुष ने उतनी ही माँगें मानी, जितनी वह देना चाहता था।"² किन्तु जैसे ही महिलाओं ने शिक्षा ग्रहण करना शुरू किया वैसे ही उसकी चेतना जागृत हुई और उसने अपने अधिकारों की माँग रखना शुरू किया। अनेक महिलाओं ने ऐसी परम्पराओं, संस्कृति, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं का विरोध किया जो महिलाओं के साथ न्याय नहीं करती।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' की बात करते हुए भारत जैसे अध्यात्मवादी एवं आदर्शवादी देश में महिलाओं पर प्रतिबन्ध रूपी जंजीरें और भी ज्यादा कसी गई, किन्तु 16वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मीराबाई ने तत्पश्चात् आधुनिक युग के समाज सुधारकों तथा महिला साहित्यकारों ने इन जंजीरों को तोड़ा और स्त्री के शोषण का पुरजोर विरोध किया। इनमें कात्यायनी प्रमुख हैं। कात्यायनी समकालीन कविता की प्रमुख हस्ताक्षर हैं। सदियों से चले आ रहे नारी शोषण को उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया है। उनका मत है की पितृसत्ता ने सदैव नारी का शोषण किया तथा महिलाओं को वही प्रदान किया जो पुरुष उन्हें देना चाहता था। उसे अपनी वासना की पूर्ति का साधन माना व जीवन को घिसने, चौका बर्तन में राख होने हेतु एक घर दिया गया। घर तो उसे दो मिले एक पिता का तो दूसरा पति का किन्तु वास्तव में इनमें से एक पर भी उसका अधिकार नहीं था। उसे आभूषणों द्वारा सजाया गया ताकि उसकी नुमाइश की जा सके। इतना ही नहीं उसकी आत्मा को पराजित करने के लिए उस पर तमाम

अपवित्र इच्छाओं एवं दुष्कर्मों का भार लाद दिया गया किन्तु ऐसा करके भी पुरुष सत्ता स्त्री की आत्मा को पराजित नहीं कर पाई और वे आज भी अपनी आज़ादी हेतु संघर्षरत हैं क्योंकि उनके पास खोने को सिर्फ जंजीरें हैं और पानों को सारा जहान। जीवन की तमाम पड़तनाओं से तंग आकर औरत मौत में ही मुक्ति देखती है लेकिन कात्यायनी महिलाओं को मौत का वरण करने की अपेक्षा संघर्ष की और उन्मुख होने को प्रेरित करती हैं क्योंकि मौत की दया पर जीवित रहने की अपेक्षा ज़िन्दा रहने हेतु संघर्ष करना उपयुक्त है- "मौत की दया पर/जीने से/बेहतर है/जिन्दा रहने की ख्वाहिश/के हाथों मारा जाना।"³

वन्दना मिश्र भारत में नारी की स्थिति एवं स्थान निर्धारण को लेकर असमंजस्य में हैं कि भारतीय समाज व धर्म 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' द्वारा नारी की पूजा करने की बात करता है तो फिर वे (महिलाएं) देवी से दासी, पवित्र से अपवित्र कैसे हो गई? तभी तो वे समाज से प्रश्न करती हैं कि नारी देवी साक्षात् स्वरूप है कि समस्त क्लृपों की खान? वन्दना मिश्र का मत है कि सरकार या निजाम के बदलने से महिलाओं को कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि उसे तो हर बार वही भोग्या एवं दासी का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। हर बार मर्यादा उल्लंघन का दोष लगा कर उन पर चाबुक ही चलाए जाते हैं तथा उन्हें ज़िन्दा लाश में परिवर्तित करने की पूरजोर कोशिश होती रही है। इसीलिए कवयित्री महिलाओं को जागरूक करने को प्रयासरत हैं। वे महिलाओं से सीधा प्रश्न करती हैं कि कब तक तुम पुरुष सत्ता के जाल में उलझी रहोगी तथा सब कुछ सहन करती रहोगी? कोई तुम्हें मुक्ति नहीं देगा बल्कि अपनी मुक्ति तुम्हें स्वयं तलाशनी होगी। अतः उठो और अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करो- "माया जंगलों में/उलझी रहोगी कब तक/नहीं अब और नहीं/कहती रहोगी कब तक//सही समय आने की/देखोगी राह कब तक/तिनके के सहारे की/जोहोगी बाट कब तक/उठो अब कर डालो/जो भी करना चाहो/कहेगा कौन क्या/कहेगा कब तक।"⁴

औरत का पहनावा तक पुरुष निर्धारित करता है और नाम संस्कृति का देता है। आखिर क्यों महिलाएं उन वस्त्रों को धारण नहीं कर सकती जिनमें वह आराम महसूस करती हैं। समकालीन कवयित्री नारी पर इन प्रतिबंधों को स्वीकार नहीं करती ये प्रतिबन्ध चाहे रहन-सहन को लेकर हों या खान-पान अथवा पहनावे संबंधी, "भारतीय संस्कृति के ये अलमबरदार/अब भी औरत को/देखना पसंद करते हैं सात

परदों में ही/जिस पोशाक में औरत/नजर आये फुर्तीली/महसूस करे आराम/वह पोशाक चुभती है/इनकी दृष्टि निगाहों को।”⁵

कंचन शर्मा का काव्य-संग्रह ‘तालाब में कंकड़’ भारत में महिलाओं पर लगी सामाजिक मर्यादा रूपी बेड़ियों को उद्घाटित करता है। कवयित्री समाज से प्रश्न करती हैं कि उसे(महिलाओं को) कोई भी निर्णय लेने या कहीं अकेले आने-जाने तक की भी स्वतन्त्रता क्यों नहीं? पिता, पति, परिवार व समाज के अलावा उसके लिए कुछ भी नहीं? उसकी खाहिश उसका सम्मान मानों किसी के लिए कोई मायने ही नहीं रखता बल्कि जन्म से ही उसे इच्छापूर्ति का साधन मात्र बना दिया जाता है। उसके खाने पीने से लेकर खुशियाँ मनाने, सपने देखने, सजने-सँवरने, घूमने-फिरने आदि पर भी पुरुषों की मर्जी चलती है। स्त्री को प्रतिपल ढोना पड़ता है संस्कारों को और निभानी पड़ती परम्परा पवित्रता की। उसका हृदय कभी-कभी विद्रोह भी करता है कि आखिर एक काला धागा और थोड़ा-सा सिंदूर कैसे उस पर बंधन लगा सकता है? कैसे वह उसकी स्वतन्त्रता को बाधित कर सकता है? पुरुष उसके गले में मात्र मंगलसूत्र डालकर कैसे उसका भाग्य विधाता बन जाता है? फिर चाहे पुरुष उस महिला को मुक्त रखे या बंद कर दे किले की दीवारों में, सूर्य तक को देखने के लिए वह आश्रित हो जाती है उसी पुरुष की इच्छा पर, यह सब कंचन शर्मा को ‘काले पानी’ की सजा के समान प्रतीत होता है। वे इसका विरोध करती हैं कि ऐसा क्या है कि मैं तुमसे बँधकर ही सुरक्षित रह सकती हूँ और अलग होते ही असुरक्षित। कवयित्री इस आतंक को गुब्बारे की तरह फोड़ना चाहती है और मिटाना चाहती हैं औरत के दिलो दिमाग से डर को, क्योंकि तब तक औरत मुक्त होकर भी मुक्त नहीं हो सकेगी। इसीलिए वह इन सिंदूर, लाल जोड़ा, चूड़ी इत्यादि से मुक्ति चाहती है, “लाल जोड़ा, लाल सिंदूर/लाल चूड़ी, अलतक,/लाल लहू के ये ठंडे/पर्यायवाची शब्द/इन शब्दों की जकड़नों से/मैं मुक्ति चाहती हूँ।/कुलाचों को तरस गई/तरस गई मैं खुले आसमां को/...../अब तो- माँ, पत्नी, भाभी/ननंद, बहू, या बेटी भर रह गई हूँ।”⁶

कंचन शर्मा केवल माँ, बहन, भाभी, पत्नी, ननद, बहू या बेटी के रूप में ही जीवन व्यतीत नहीं करना चाहती बल्कि इन सबसे अलग एक अन्य रूप की कल्पना भी करती है, उसके प्राकृतिक स्वभाविक रूप मानव रूप की। वो आसमां में परिंदा बन उड़ जाना चाहती हैं व मुक्त रूप से आसमां को नापना व संसार को देखना चाहती है। इसीलिए वो इन रिश्तों की जकड़न से मुक्ति पाना चाहती हैं। वो आज़ादी चाहती हैं

ताकि खुल कर हँस सके तथा मुक्त रूप से सर्वत्र विचरण कर सके। वह केवल ‘बिस्तर’ एवं ‘घर की चारदिवारी’ तक ही सीमित नहीं रहना चाहती। तभी तो वे झूठे संस्कारों, रीति-रिवाजों, लज्जा, पवित्रता इत्यादि की दीवारों को तोड़ना चाहती हैं। कंचन शर्मा लक्ष्यहीन जीवन को धिक्कारती हैं तथा लक्ष्य प्राप्ति हेतु संघर्ष करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती हैं। महिलाओं के अंदर एक आशा की किरण विद्यमान है कि कभी न कभी तो यह निराशायुक्त, दुःख से परिपूर्ण रात्रि समाप्त हो जाएगी किन्तु कंचन शर्मा की जिद्द है कि इन काराओं, बन्धनों, किलों, लक्ष्मण रेखाओं को तोड़ मुक्ति प्राप्त करनी ही है। वह मुक्ति फिर चाहे पुरुष के मोह से हो या पुरुष सत्ता से।

कंचन शर्मा औरत के निरंतर होने वाले शोषण का वर्णन करती हैं और दर्शाती हैं कि किस प्रकार औरत का पूरा जीवन इन्हीं चक्रों में समाप्त हो जाता है और वह मुट्ठी भर आज़ादी को तरसती रह जाती है- “शब्दों के रिश्ते पहनाकर,/एहसास के सांकल से/कर लिया कैद तुमने मुझे/जवानी चौके का स्वाद/जज्बात चूल्हे की आग बन गई,/‘सिंदूर तिलकित भाल’-जाने कब?/कर गई खोखला मेरा वजूद।/समाज तुम्हारा है,/दोगे मुझे/मुट्ठी भर आजादी।”⁷

वे महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों के लिए न केवल पुरुष को कटघरे में खड़ा करती हैं बल्कि भगवन को भी इस शोषण चक्र में बराबर का भागीदार मानती हैं- “औरत! औरत!! औरत!!!/भावनाओं से खूब खेला,/बच्चों का पकड़ाया झुनझना,/दिया आँचल में दूध-/आँखों में पानी/अबला जीवन हाय/तेरी यही कहानी/दया, करुणा, सहानुभूति,/कभी जीवन देकर/बन गए तारणहार?/क्रोध से बना दिया पत्थर।/प्रसन्नता में देवी !!/पुरुषोत्तम बनकर दिया बनवास/कृष्ण तुम भी मेरे प्रेम की आड़ में/करते रहे राजनीति/बढ़कर मेरे लाज की रक्षा की,/क्यों नहीं दि मेरे सिने में आग?/मेरे बाजुओं में ताकत?/मैं समझ नहीं पायी प्रिय।/तुम्हारी कूटनीति,/देवता भगवान बनने का ऐश्वर्य!!!/महापुरुषत्व का लोभ-/कोई कैसे छोड़े?”⁸

यह आक्रोश उनकी कविता में सर्वत्र परिलक्षित होता है। वे लिंग भेदाधारित सामाजिक व्यवस्था का भी विरोध करती हैं। हमारे समाज की प्राचीन परम्परा रही है कि लड़के के जन्म पर अत्यधिक खुशियाँ मनायी जाती हैं जबकि लड़की के जन्म लेते ही पूरे घर में मातम-सा छा जाता है। हालाँकि वर्तमान में इसमें कुछ बदलाव आया है किन्तु फिर भी स्थिति पूर्णतया संतोषजनक नहीं कही जा सकती। स्वयं को आधुनिक घोषित करते हुए भी हमारा समाज लड़के की

चाह-मोह से मुक्त नहीं हो पाया है, फिर चाहे वह कितना ही शिक्षित क्यों न हो, यह मोह ही मुख्यतः लिंगभेद का कारण बनता है। आधुनिक कवयित्री कंचन शर्मा इसका विरोध करते हुए कहती हैं कि यह चक्र आज तक मेरी समझ में नहीं आया कि आखिर ऐसा क्या है जो लड़का पैदा होते ही खुशियाँ मनाई जाती हैं और पिताजी का सीना गर्व से फूल जाता है जबकि लड़की के पैदा होते ही उसे मनहूस मान लिया जाता है, क्यों लड़का अपने सभी निर्णय स्वयं लेता है और लड़की के निर्णय, यहाँ तक की उसके सपने, उसके श्रृंगार, उसका खान-पान, उसका व्यवहार, सब कुछ पहले से ही उसके(लड़की के) परिजन निर्धारित कर देते हैं। यह भेदभाव क्यों? आखिर सम्बन्धित विषयों पर निर्णय लेने का अधिकार लड़की को क्यों नहीं? “कोख एक ही थी हम दोनों की, बीज एक ही था हमारा/फिर मैं ‘भार’ तुम ‘वंशधर’ कैसे?/मैं मनहूस, कुलता, विधवाय/तुम कुछ भी नहीं?/मैं कब सजूँ, कब संवरूँ/मैं लाल ओढ़ूँ या सफेद/मैं हँसू या रहूँ मौन,/मैं जियूँ या मरूँ/हुआ सबकुछ तुमसे तय।”⁹

समकालीन कविता की प्रमुख हस्ताक्षर अनामिका ने औरत पर होने वाले पारिवारिक अत्याचार को अपनी कविता में अभिव्यक्ति प्रदान की है। कैसे एक औरत का परिवार में निरंतर शारीरिक एवं मानसिक शोषण होता रहता है। कैसे औरत को निरंतर पुरुष की गालियाँ बेवजह सुननी पड़ती हैं और तो और उस पर लात-धूसें ऐसे बरसते हैं मानों बोनस मिल रहा हो या फाइव स्टार होटल का कोई स्पेशल आफर हो- “खाए ही जाती हैं/शाम से सुबह तक वे/खूब मिर्चीदार गालियाँ/ऊपर से थप्पड़, घूँसे, डांट, ताने/बोनस में /बाई वन, गेट वन फ्री/और ज्यादातर तो सैम्पल में मुफ्त बंटी/बस/यों ही !/जैसे की फाइव स्टार के संग पेप्सी,/वैसे ही गाली के संग घूँसे/क्या फर्क पड़ता है जी!/बचपन से यही सीखते आए हैं।”¹⁰

अनामिका औरत पर होने वाले इन अत्याचारों को पहले उद्घाटित करती हैं ताकि पुरुष को इस विषय पर चिन्तन हेतु मजबूर किया जा सके, तत्पश्चात् वे उस शोषण एवं अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज़ बुलंद करती हैं। अनामिका औरत को एक ऐसा शक्ति पुंज बनाना चाहती हैं जो किसी भी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक अन्याय का विरोध कर सके। उनका मत है कि जब भी स्त्री ने आगे बढ़ने की कोशिश की पुरुष ने उसे ठोकर मारकर पीछे करना चाहा किन्तु आज की महिला लड़खड़ाई भी, गिरी भी और गिर कर उठी भी तथा आगे भी बढ़ी। लेकिन जब वह आगे बढ़ने लगती है तो समाज द्वारा

उसका रास्ता रोकने तथा उसकी स्वतन्त्रता को प्रतिबंधित करने के लिए अनेकानेक प्रपंच रचे किन्तु आज की महिला इन्हें इंद्रजाल की भाँति काटती हुई निरंतर नई ऊचाईयाँ छू रही है।

सविता सिंह की कविताओं में उनका नारीवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। सदियों से लगातार महिलाओं पर अत्याचार होते रहे हैं। उनसे बंधुआ मजदूर की तरह मशीन मानकर काम लिया जाता रहा है। मशीन जिसे कभी थकान नहीं होती। पुरुष जब चाहे स्त्री को पीट देता है। जब चाहे घसीट देता है मानों पुरुष के लिए वह मात्र एक खिलौना हो, जिसके साथ वह मन मुताबिक खेल सकता है। उससे(स्त्री से) काम तो बहुत लिया जाता है किन्तु उसके रोने व भूखी सोने को कोई नहीं देखता। उसकी खुशियाँ, आकांक्षाओं एवं स्वतन्त्रता से मानों किसी को कोई सरोकार ही नहीं। पुरुष ने उसे कामधेनु बना रखा है जिससे जो चाहे प्राप्त कर लो ममता से या जबरदस्ती पुत्र रूप में या भाई रूप में, पिता रूप में या पति रूप में सदियों से पुरुष बस उसका शोषण ही करता रहा है। मुक्ति उसके लिए स्वप्न मात्र बनकर रह गई है और वह मुक्त हो भी तो किस-किस से? किस-किस के साथ लड़े? पिता से? पुत्र से? पति से? भाई से? परिवार से? समाज से? या सम्पूर्ण देश व संसार से? हर जगह हर स्तर पर उसे अपने अस्तित्व को बचाने हेतु संघर्ष करना पड़ रहा है। हम अपने गौरवपूर्ण अतीत की बात करते हैं किन्तु उस गौरवपूर्ण अतीत में स्त्री पर हुए अमानवीय अत्याचारों रूपी कलंक की बात क्यों नहीं करते, जिसमें महिलाओं पर सती-प्रथा जैसी कुप्रथाओं को लाद दिया गया था और मजबूर किया गया उसे मृत पति के साथ जीते-जी जलने को। क्या किसी ने भी नहीं सोचा कि पति की मृत्यु में भला उसका क्या कसूर है? बस अपनी कमजोरी छुपाने के लिए महिलाओं पर क्रूरतापूर्ण आचरण किया जाता रहा, “बैठी हैं एक साथ/गठरी बन/बिसूरती/रोती विलाप करती स्त्रियाँ/करती शापित पूरे इतिहास को/जिसमें उनके लिए अंधकार का मरुस्थल बिछा है।”¹¹

सविता ने अपनी कविताओं के माध्यम से भ्रूण-हत्या जैसी गंभीर समस्याओं को उठाया है। भ्रूण-हत्या भारतीय समाज व देश पर कलंक के समान है। हम भारतीय जैसे तो बड़े आध्यात्मिक बनते हैं तथा धर्म व मानवता सम्बन्धी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। धर्म के नाम पर लड़ते-झगड़ते हैं तथा अपने प्राण तक दौंव पर लगा देते हैं। कुछ भी अच्छा-बुरा घटित होने पर उसे ईश्वर का दिया अथवा ईश्वर इच्छा बताते हैं किन्तु जब बेटी की बात आती है तो ये धर्म, ईश्वर,

पाप-पुण्य सम्बन्धी सभी बातें पता नहीं कहीं विलुप्त हो जाती हैं और बेटी के रूप में ईश्वर के वरदान की उपेक्षा कर उसका तिरस्कार कर भ्रूण में ही उसकी हत्या कर देते हैं और जो कोई धोखे से बच भी जाती है तो उसका जीवन मौत से भी बदतर हो जाता है। हर जगह वह शोषण की चक्की में पिसती है। जब आप ईश्वर को मानते हैं, कर्मों के फल में विश्वास करते हैं तो बेटी के विषय में ऐसी गलत धारणा क्यों? समकालीन कवयित्रियाँ इसके विरुद्ध दिनोंदिन अपनी आवाज़ सशक्त करती जा रही हैं। होनी भी चाहिए। लोग यदि पूर्वधारणाओं से निकल समाज को सूक्ष्मतापूर्वक देखें तो पता लगेगा कि आज बेटियाँ बेटों से कहीं ज्यादा आगे हैं। बेटा अपने माता-पिता को वृद्ध-आश्रम(ओल्डहोम) में छोड़ आता है जबकि बेटियाँ उनकी सेवा करती हैं। अतः समाज का पूर्वधारणाओं से निकलना अति आवश्यक है। सविता सिंह इस व्यवस्था पर व्यंग्य करती हैं, “नमन करूँ इस देश को/जहाँ मार दी जाती है हर रोज/ढेर सारी औरतें/जहाँ एक औरत का जीवित रहना/एक चमत्कार की तरह है/नमन करूँ उस माँ को/अपनी बेटियों को जनती हुई जो/रोती है ‘अब क्या होगा इनका ईश्वर’/इस दुनिया में।”¹²

इंदु जैन के काव्य में नारी-स्थिति की यथार्थाभिव्यक्ति हुई है। एक औरत का घर की चारदिवारी में निरंतर शारीरिक एवं मानसिक शोषण होता रहता है इसलिए उसे नारी-मुक्ति या स्वतन्त्रता महज कल्पना नज़र आती है। ‘गृहस्थिन’ में इस स्थिति को अभिव्यक्ति मिली है कि स्त्री किस प्रकार परमुखापेक्षित रहती है। निरंतर दूसरों के आदेशों का पालन करने, उनकी जरूरतों को पूरा करने में ही उसका पूरा जीवन बीत जाता है मानों वह कोई कैदी हो और इस कैद से मुक्ति का मार्ग वे अपनी कविता ‘जागता सपना’ में दिखाती हैं- “सबसे पहले आँख खोलो/फिर मुट्टियाँ/फिर पैर/फिर उठो/फिर चिटकनी खोलो/न रात से डरो/न ठंड से/न पसीजे पैरों लड़खड़ाने से न बाहर खड़े से/न भीतर सोये से/फेंक दो अपने को/कूद पड़ो/ट्रेन तभी रुकेगी/जब खुले दरवाजे की/हरी झंडी उसे दिखेगी।”¹³

समाज की सोचनीय स्थिति के पश्चात् भी सुखद बात यह है कि आधुनिक युग की कवयित्री व महिलाएँ न केवल अपने अधिकारों अपितु अपने कर्तव्यों के प्रति भी पूर्ण रूप से जागरूक हैं तथा किसी भी स्थान पर महिलाओं पर होने वाले अत्याचार व अन्याय का विरोध करती हैं। वे भगवान तक को सीधी चेतावनी देने में भी संकोच नहीं करती कि अब हम किसी भी तरह का अन्याय सहन नहीं करेंगी और न सीता

की तरह अग्नि परीक्षा ही देंगी। महिलाएँ बहुत हद तक सदियों पुरानी बेड़ियों को तोड़ भी चुकी हैं। अब वे आदर्श नहीं अपितु यथार्थ के धरातल पर जीवन व्यतीत करना चाहती हैं और यह जीवन वे देवी नहीं बल्कि इन्सान बनकर जीना चाहती हैं। अब वे हर क्षेत्र में अपने माता-पिता व देश का नाम रोशन कर रही हैं। खेलों में सानिया मिर्जा, सायना नेहवाल, गीता, बबीता, पी.टी. उषा, मेरिकोमय अन्तरिक्ष में उड़ान भरने वाली कल्पना चावला, सुनीता विलियम्स राजनीति में इंदिरा गाँधी से लेकर सुषमा स्वराज, ममता बनर्जी, जयललिता, सोनिया गाँधी, प्रतिभा पाटिल आदि। संगीत में लता मंगेशकर व साहित्य सृजन में भी महिलाएँ अपना लोहा मनवा चुकी हैं।

संदर्भ-

1. शोभा निम्बालकर पवार(सं.), नारी विमर्श की अवधारणा और हिंदी कहानी, मानसी पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2008, पृ. 7
2. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, हिंदी पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2002, पृ. 65
3. कात्यायनी, बेहतर है(सात भाइयों के बीच चम्पा), परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2008, पृ. 44
4. वन्दना मिश्र, कब तक(वे फिर आये हैं), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011, पृ. 72-73
5. वही, पृ. 78
6. डॉ. कंचन शर्मा, तनी रीढ़(तालाब में कंकड़), सहयोगी प्रकाशन, दुर्गापुर, वर्धमान, 2008, पृ. 72
7. वही, पृ. 72
8. डॉ. कंचन शर्मा, विरासत(तालाब में कंकड़), सहयोगी प्रकाशन, दुर्गापुर, वर्धमान, 2008, पृ. 76
9. वही, पृ. 78
10. अनामिका, कविता में औरत, इतिहास बोध प्रकाशन, 2007, पृ. 127
11. सविता सिंह, अपने जैसा जीवन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 33
12. वही, पृ. 45
13. श्रीमती इंदु जैन, जागता सपना(यहाँ कुछ हुआ तो था), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृ. 62

शोधार्थी(हिंदी विभाग), पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

सांस्कृतिक परिवेश के संदर्भ में श्री नरेश मेहता का साहित्य

मंजू बाला

मनुष्य अन्य पशुओं की भाँति प्राकृतिक शक्तियों के सम्मुख असहाय बन कर नहीं रहता। वह उन पर एक सीमा तक नियंत्रण करना, उनका उपयोग अपनी सुविधाओं के लिए करना सीख चुका है। अतः वह प्राकृतिक परिवेश में न रह कर एक स्वनिर्मित कृत्रिम परिवेश में रहता है। प्रत्येक पीढ़ी को यह कृत्रिम परिवेश अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से विरासत में मिलता है। प्रत्येक पीढ़ी इस परिवेश में अपने ढंग से परिवर्तन करती है- कुछ पुरानी बातें छोड़ती है और कुछ नई बातें जोड़ती है और फिर इस परिवर्तित या दूसरे शब्दों में, परिवर्द्धित एवं संशोधित परिवेश को अगली पीढ़ी को सौंप देती है। यह कृत्रिम परिवेश ही मनुष्य का सांस्कृतिक परिवेश है। इसी सांस्कृतिक परिवेश में मनुष्य जन्म लेता है, आँखें खोलता है, होश संभालता है। होश संभालकर वह देखता है कि उसके चारों ओर कुछ विशेष धारणाएँ प्रचलित हैं, कुछ विशेष विश्वास तथा नैतिक मूल्य मान्य हैं, जीवन को देखने समझने का विशेष दृष्टिकोण है। इस तरह के कुछ विशेष संस्कार उसे विरासत में मिलते हैं। अतः मनुष्य के परिवेश का अध्ययन वस्तुतः उसकी संस्कृति का ही अध्ययन है।

“संस्कृति शब्द भाषा की ‘संस्कृ’ धातु में ‘वितन’ प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ ‘अच्छी स्थिति’ ‘सुधरी हुई स्थिति’ आदि का बोधक है। ‘संस्कृति’ से मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है, जिससे उसे ‘सुधरा हुआ’, ‘ऊँचा’, ‘सभ्य’ आदि विशेषणों से विभूषित किय जा सकता है।”¹¹

टी.एस. इलियट के विचारानुसार, “शिष्ट-व्यवहार ज्ञानोपार्जन, कलाओं के सेवा आदि के अतिरिक्त किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियाएँ तथा कार्य जो उसे विशिष्ट बनाते हैं, उसकी संस्कृति के अंग हैं।”¹²

परशुराम चुतर्वेदी के अनुसार, वह ‘संस्कृति’ की व्यक्तिपरक एवं समाजपरक व्याख्या करते हुए कहते हैं,

“संस्कृतिक शब्द किसी व्यक्ति के पक्ष में बहुधा उसकी शिष्टता सौजन्यता अथवा मानवता का बोधक होता है और इन गुणों द्वारा उसकी किसी ऐसी स्थायी मनोवृत्ति व ऐसे शील का पता चलता है, जिसके कारण वह समाज में स्वभावतः उच्च कोटि का गिना जाता है।”¹³

प्रत्येक देश के समाज एवं जाति के अपने कुछ विशिष्ट त्योंहार, रीति-रिवाज, रहन-सहन के विशेष ढंग, आचार एवं विचार होते हैं जो वहाँ की संस्कृति के परिचायक है। संस्कृति संस्कार करने अर्थात् किसी वस्तु को संस्कृत रूप देने की क्रिया का भाव है। संस्कृति को मुख्य कार्य अंगों, यथा-कला नैतिकता, दर्शन, शिक्षा, संगीत आदि के द्वारा मानवीय जीवन को परिष्कृत बनाना है। संस्कृति मानव निर्मित है, वह व्यक्ति मात्र अथवा थोड़े से ही व्यक्तियों की वस्तु नहीं होती, उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है। सामाजिक दबावों के कारण उसके रूप में एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। तथापि यह जड़ और स्थित नहीं होती। इतिहासकारों ने संस्कृति को किसी समूह या देश के विशेष कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास के रूप में ग्रहण किया है। किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन-यापन के जो विशिष्ट प्रकार विकसित हो जाते हैं, वे ही उस समूह की संस्कृति है।”¹⁴

प्रत्येक समाज के अपने रीति-रिवाज एवं परम्पराएँ होती हैं। वस्तुतः समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए ही इनका जन्म हुआ। भारत का अधिकांश वर्ग समूह अपनी संस्कृति, रीति-रिवाजों, त्योंहारों, उत्सवों, शिष्टाचार व विश्वासों के साथ जुड़ा हुआ है। पाश्चात्य परम्परा से, संस्कृति से प्रभावित आज के मनुष्य में नैतिक मानदण्डों के विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई है। शिक्षा के प्रसार व पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाववश पुरातन रिवाजों के प्रति मोह भंग होता जा रहा है, फिर भी पुराने रीति-रिवाज अभी तक पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं।

प्रत्येक समाज में विभिन्न रीति-रिवाज एवं परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। वस्तुतः समाज को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए इनका जन्म हुआ। समाज की संरचना में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्राचीन मनीषियों ने उत्साह एवं चेतना के स्रोत को निरंतर प्रवाहमान रखने के लिए व्यक्ति के जन्म से लेकर उसकी मृत्युपर्यन्त के अन्तराल को विभिन्न अनुष्ठानों में विभाजित कर दिया है। इनके लिए विशेष-विधान का प्रावधान कर दिया है। इन्हें संस्कार की संज्ञा दी गई है। वास्तव में जीवन के उत्तरोत्तर विकास में कर्म उपासना और ज्ञान के तीन सोपानों में पहला सोपान कर्म का है। इसलिए विहित-अविहित कर्मों की परिकल्पना करके विधि-विषेध की परम्परा का श्रीगणेश हुआ है।

‘यह पथबन्धु था’ में नरेश मेहता ने उस समय के रीति-रिवाज जब बेटी शादी के बाद पहली बार अपने मायके आती है। इस उपन्यास में इस तरह दिखाने का प्रयास किया है। जब कान्ता अपने ससुराल में आती है तो उसके स्वागत की तैयारियाँ पूरे रीति-रिवाज से की जाती हैं। उसकी माँ नग “बड़े फाटक से कान्ता की अगुवायी के लिए केलें के खम्भे सजाये थे। तोराण बंधवायी थी, क्लश रखवाये थे। पूरा आँगन लीपा गया था। चौक पूरा गया था। पाव-बताशों का रत्त-गुलाब जल का, नफीरी वालों का, सभी का प्रबंध किया गया था।”²⁵ और जब कान्ता घर प्रवेश करती है तो उसकी आरती की जाती है।

श्रीमोहन कान्ता को लेकर पिता के घर जाता है तो “माँ तथा काकी माँ ने उसका माथा सूँधा। काकी माँ ने तिलक-आरती की, सुशीला ने शंख बजाया। गुणवंती ने खिलें बिखेरें।”⁶ इस तरह पूरे रीति-रिवाज के साथ कान्ता का घर में स्वागत किया जाता है।

गुणवंती की जब शादी होती है तो खानदान की पूरी रस्मों तथा रीति-रिवाजों के साथ होती है, “मंगलवार के लिए स्त्रियाँ बिल्कुल तैयार हैं। जैसे ही ‘अन्तर पट’ हटाया जाएगा और पुरोहित- ‘चौबीस घड़ी सावधान’ कहेगा तथा वर वधू के हाथ मिलाएगा कि बाजे, गायन सब एकदम गा उठेंगे। खिलों की, चावल की वर्षा होने लगेगी।”⁷

विवाह के बाद जब लोग घाट पर पूजा करवाने आते हैं उस समय के रिवाज को नरेश मेहता ने उपन्यास में एक नये दम्पति के माध्यम से दिखाया है- “कोई नव विवाहित दम्पति गंगा पूजन के लिए लाया जा रहा था। शहनाई और घड़ियाल बोल रहे थे। दुल्हन को नयन ने गोदी में उठा रखा था। औरतें गाती हुई घाट से नीचे उतर रही थीं।”⁸

‘नदी यशस्वी है’ में जब शांति की मृत्यु हो जाती है तो घर पर ब्राह्मणों को बुलाया जाता है ताकि मृत्यु के बाद के जो पूजा पाठ या रीति-रिवाज होते हैं उनको पूरा किया जा सके। ब्राह्मण आकर पूजा-पाठ तथा अंतिम संस्कार की तैयारियाँ करने लगते हैं। शांति के शव को जमीन पर लिटा दिया जाता है और “महामृत्युंजय का सात दिन का अखण्ड पाठ करते हैं पाँच, ब्राह्मण दूर कोन में ग्रह नक्षत्रों की साक्षी में जाप में रत थे।”⁹

‘धूमकेतु : एक श्रुति’ में नरेश मेहता दुर्गाष्टमी के मौके पर जो रीति-रिवाज उदयन के परिवार में होते हैं, उनका चित्रण-उदयन के द्वारा इस तरह किया गया है, “दुर्गाष्टमी है! नवरात्रि कुलदेवी का पूजन हो रहा है। हमारे घर में सवरे चार बजे उठ कर पुरुषों ने खाना बनाया। हमारे यहाँ देवी के भोग के लिए तवा या कढ़ाई नहीं चढ़ती इसलिए बाटियाँ, घुघरी आदि बनती है। दीवार पर पाँच या सात घी की रेखाएँ बना कर उन्हें सिंदूर लगा दिया जाता है। उसके बाद ‘बा’ पूजा करते हुए जाने क्या-क्या बोलते हुए हवन करते हैं। दीपक की आरती की जाती है। उसके बाद सब खाना खा लेते हैं।”¹⁰

श्रीनरेश मेहता ने उपन्यास में उदयन के परिवार में एक और परम्परा की ओर इशारा किया है। जब उसके घर पर कोई माँगने वाला साधू या साधुनी आते हैं तो माँगने वाले को भिक्षा “चौके के भीतर छीके में से डिब्बा खोल कर देनी होती है। चौके के भीतर, बाहर वाले कपड़े पहन कर नहीं जाया जा सकता।”¹⁰ इसलिए कई बार उदयन की बुआ माँ चौके के बाहर खड़े होकर साड़ी खोल निर्वसन हो डिब्बे में से रोटी देती है।

जमाई जब किसी त्यौहार के अवसर पर ससुराल जाता है तो उस समय के रीति-रिवाज को नरेश मेहता ने उदयन के जीजा जब अपने ससुराल आते हैं के माध्यम से दिखाया है “जब वार त्यौहार के दिन हमारे घर जीजा जी आते हैं तो कचहरी में बड़ी आवभगत की जाती है। उन्हें एक कालीन पर बिठाया जाता है। अच्छा भोजन बनता है। उनका पूजन किया जाता है और चलती बेला उन्हें तिलक लगाया जाता है। ‘बा’ नारियल का कुमकुम लगाकर पान रखकर ग्यारह रुपयों के साथ उन्हें भेंट करते हैं।”¹²

‘यह पथबन्धु था’ में श्रीधर को संस्कारी व्यक्ति में रूप में दिखाया गया है। श्रीधर बाबू कुलीन तो नहीं थे परंतु कुलशील वाले अवश्य थे। “शान्त एवं नीरस लगने वाले इस व्यक्ति के बारे में सभी की धारणा थी कि कुछ भी हो श्रीधर

बाबू शील सम्पन्न, आज्ञाकारी हैं।”¹³ जब भी वह बाहर से घर लौटते तो अपनी माँ के पास जाना नहीं भूलते। माँ के पास बैठ कर फिर अपने कमरे में जाते हैं। इन सब बातों से ही उन में संस्कार झलकते हैं।

‘धूमकेतु : एक श्रुति’ उपन्यास में उदयन के परिवार वालों का संस्कार है कि वे लोग बाज़ार की कोई चीज़ नहीं खाते। जब एक बार उत्सव के दौरान उदय ने बाज़ार से मिठाई, नमकीन खा ली थी, “लेकिन घर आने पर जब पूछा गया कि क्या-क्या खाया तो बता दिया। तब तक मिठाई में क्या अपरस या अनअपरस होता है यही नहीं मालूम था और उसके बाद दिन भर उपवास रखवाया गया था। हिमाद्री करवायी गयी थी। गौमूत्र पीना पड़ा था।”¹⁴

नरेश मेहता ने इच्छा शंकर के बचपन से संस्कारी व्यक्तित्व को इस तरह दर्शाया है कि जब इच्छा शंकर तथा उसके दोनों भाई बचपन में स्कूल से वापिस आते, तो दोनों भाई आराम करने लगते। परन्तु इच्छा शंकर अपने पिता के काम में हाथ बँटाता, “स्कूल से लौटने पर जरा भी आराम न कर इच्छा या तो अपने बापू का गोऊओं के सानी पानी में हाथ बँटाने लग जाता। माँ जब खाना बनाती होती तो वह अपनी नवजात बहन को लौरियाँ गाकर सुलाने लग जाता।”¹⁵ जब पिता के सामने कुल खत्म होने की बात आती है तो वह इच्छा शंकर को तीसरा विवाह करने के लिए कहते हैं, “पिता ने जिस असभ्यता के साथ पुरुषार्थ किया उसका स्वरूप देने का उन्हें पूरा अधिकार है। यदि उनकी इच्छा है कि उन्हें तीसरा विवाह करना है, तो वह कभी उलट कर नहीं पूछने वाले हैं कि क्यों।”¹⁶

वेशभूषा का भी संस्कृति तथा सभ्यता से घनिष्ठ संबंध होता है, क्योंकि प्रत्येक संस्कृति तथा सभ्यता के लोगों के वेशभूषा में भी अन्तर होता है, जिसके आधार पर उक्त संस्कृतियों को पहचाना जा सकता है। वेशभूषा प्राकृतिक अवस्था पर आधारित होती है, यद्यपि आजकल उसका स्वरूप वैसा नहीं रह गया है और गरम देश के लोग भी कोट-पैट पहनने लगे हैं, जो वस्तुतः ठण्डे प्रदेश की वेशभूषा है। लेकिन प्रारंभ में मनुष्य जाति में सर्दी-गर्मी से बचाव के लिए ही शरीर ढकना प्रारंभ किया था। जो कालान्तर में शृंगार प्रसाधन का आवश्यक अंग बन गया और आज हम देखते हैं कि लोग सरद-गरम का उतना ध्यान नहीं रखते, जितने खुद के अच्छे और भड़कीले लगने का।

भाषा व्यक्ति का मानस तो नहीं होती है, परन्तु व्यक्ति के यथार्थ और पहचान का आधार अवश्य होती है। वस्तुतः

भाषा एक ऐसा माध्यम है, जो निरंतर प्रयुक्त होते रहने के कारण अर्थ की दृष्टि से तथ्य का या संरचना का रूप ले लेता है। रचनाकार भाषा के माध्यम से भाषा में ही कुछ नया रूप और आकार पैदा करके अनुभव को, मनुष्य को मनुष्य के माध्यम से समझने में सहायक होता है। भाषा के द्वारा ही अनुभव को समझा जा सकता है। भाषिक संरचना की छानबीन, अनुभव की सघनता और यथार्थ के प्रति दृष्टि को प्रमाणित कर सकती है।

‘यह पथबन्धु था’ में जब श्रीधर पुस्तकें साहब जो कि मराठी व्यक्ति हैं से मिलने जाता है तो उनकी वेशभूषा, इस प्रकार होती है, “एक मंझले कद का गेहूँ वर्ण का व्यक्ति प्रविष्ट हुआ। धोती लम्बा कोट, त्रिपंड और पूनेशाही पगड़ तथा गले में आँट देकर लम्बा गिरा दुपट्टा।”¹⁷ यह वेशभूषा थी पुस्तकें साहब की उपन्यास में बंगाली वेशभूषा का नरेश मेहता ने बिशन बाबू के माध्यम से दिखाया है, “गहरे घुंघराले बाल जो पीछे की तरफ किये हुए थे। सुतां हुआ मुँह। तेज नाक नक्शा। आँखों के पास नीचे की तरफ खाली झाँई। भूरी पुतलियाँ। सटे पतले ओठ। खदर का कुर्ता-पजामा। कुरते के सामने सीने पर ढक्कनदार दो जेबें।”¹⁸

‘नदी यशस्वी है’ में नरेश मेहता ने भवानी की गुजराती वेशभूषा दिखाया है। भवानी कक्षा में जब पहली बार उदयन से मिलता है तो उदयन उसकी वेशभूषा को देखता है, “जेबों वाला ढीला गुजराती पायजामा, नीली धारी की मैल खोरी कमीज, जिसमें पीतल के बटन। उड़े हुए ऊदे रंग का एक तंग-सा कोट जिसकी बाहें छोटी हो गयी थीं तथा जिसकी जेबों पर स्याही के फैले हुए दाग तथा सिर पर नीमाड़ खादी की हरे-सफेद रंग की, गंगा-जुमना टोपी। फटे हुए त्रेपसोल का जीर्ण जूता।”¹⁹

सुनन्दा की माँ की वेशभूषा उपन्यास में इस तरह की दिखाई गई है। जब वह उदयन को नाश्ता करवाती है, “नाश्ते की प्लेट थमा सुनन्दा की माँ दूध में आवेल्टीन मिलाने लगी। साड़ी के चौड़े से लाल किनारे में से उसका स्नानहित मुख एकदम उत्कीर्णित लग रहा था। उसके कानों के सोने के फूल, अलंकार नहीं स्वयं अंग लग रहे थे। खूब भरी क्लाईयों में सोने की चूड़ियाँ बोध लग रही थीं। पल्लू के भीतर गीले बाल फैले थे। कपाल चौड़ा उतना अधिक नहीं था जितना की गोल। आँखें बड़ी गुली-बसी लगी रही थीं।”²⁰

‘डूबते मस्तूल’ में नरेश मेहता ने ईसाई स्त्रियों की वेशभूषा को इस प्रकार दर्शाया है, “ईसाई औरतें लाल-पीली चैकों के ऊँचे-ऊँचे फ्रॉक और ऊपर से सफेद खुले गले की

कालर वाला ब्लाउजों में बड़ी खूबसूरत लग रही थीं।”²¹

उपन्यास में रंजन की वेशभूषा को इस तरह दर्शाया गया है कि जब स्वामीनाथन अपने मित्र की पत्नी रंजन से मिलता है, सामने “हरी साड़ी जोकि खास किस्म की है और जिसे दक्षिणी महिलाएँ पहनती हैं, पहने हुए बाफकट घुँघराले बाल, हँसती हुई आँखें, गोरा रंग और प्रणाम करते हुए दोनों हाथ।”²² जोड़े हुए मिलती है। स्वामीनाथन रंजना की खूबसूरती को देखता ही रह जाता है। आगे नरेश जी रंजना की वेशभूषा का वर्णन इस प्रकार करते हैं, “हरा ब्लाउज पहने हैं जिसके अंदर उसका शरीर गुस्त किया हुआ, किसी खुशबू वाले साबुन से धुला और मुलायम तौलिये से पूँछा हुआ बंद है। केले की तरह चिकनी बांहों में यह ब्लाउज कैसा-फँसा-फँसा-सा लग रहा है। गले में मोतियों की माला पड़ी हुई है।”²³

नरेश मेहता के ‘धूमकेतु : एक श्रुति’ में उदयन अपने अध्यापक जिन्हें वह छोटे गुरु जी कहता है की वेशभूषा इस तरह बताता है, “वे सिर से पैर तक खद्दर की धोती, लम्बा कुरता, तहाया दुपट्टा धरे रहते। चन्दन का सफेद तिलक उनके गौरवपूर्ण पर खिल उठता था। छोटे गुरु जी अपेक्षाकृत कम सुन्दर तथा बड़े दाँतों के व्यक्ति थे तथा उनके मुँह से तम्बाकू की गंध आती रहती।”²⁴

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नरेश मेहता के साहित्य में सांस्कृतिक परिवेश की झलक उनके उपन्यासों में दिखाई पड़ती है।

संदर्भ-

1. शिवदत्त ज्ञानी, भारतीय संस्कृति, पृ. 16

2. नीरजा कुमार, समाज मनोविज्ञान के संदर्भ में जैनेन्द्र का कथा साहित्य, पृ. 152
3. परशुराम चतुर्वेदी, बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृ. 2
4. श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति, पृ. 77
5. श्री नरेश मेहता, यह पथबन्धु था, पृ. 360
6. वही, पृ. 360
7. वही, पृ. 360
8. वही, पृ. 435
9. श्री नरेश मेहता, नदी यशस्वी है, पृ. 232
10. वही, धूमकेतु : एक श्रुति, पृ. 38
11. वही, पृ. 39
12. वही, पृ. 48
13. यह पथबन्धु था, पृ. 25
14. श्री नरेश मेहता, धूमकेतु : एक श्रुति, पृ. 70
15. वही, पृ. 217
16. वही, पृ. 253
17. यह पथबन्धु था, पृ. 191
18. वही, पृ. 197
19. नदी यशस्वी है, पृ. 47
20. वही, पृ. 129
21. वही, डूबते मस्तूल, पृ. 18
22. वही, पृ. 29
23. वही, पृ. 32
24. धूमकेतु : एक श्रुति, पृ. 53

गाँव-पो. दरबा कलां, जिला-सिरसा, हरियाणा

पृ. 18 का शेष भाग

- | | |
|--|---|
| 5. उद्धृत, ओमप्रकाश सिंह, प्रेमचन्दोत्तर कथा साहित्य और साम्प्रदायिक समस्याएँ, पृ. 5 | खोज, आलोचना (पत्रिका), अप्रैल-सितम्बर 2004, पृ. 70 |
| 6. डॉ. रोहिणी अग्रवाल, समकालीन कथा साहित्य : सरहदें और सरोकार, पृ. 14 | 12. भीष्म साहनी, तमस, पृ. 126 |
| 7. असगर वजाहत, साम्प्रदायिकता : पुनर्विचार की जरूरत, कथाक्रम, जुलाई-सितम्बर 2003, पृ. 77 | 13. वही, पृ. 59 |
| 8. राजेश्वर सक्सेना/प्रताप ठाकुर, भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना, पृ. 127 | 14. वही, पृ. 31 |
| 9. डॉ. बलभीमराज गोरे, सामयिक लेख-आलेख, पृ. 132 | 15. वही, पृ. 32 |
| 10. उद्धृत, डॉ. अर्जुन चव्हाण, समकालीन उपन्यासों का वैचारिक पक्ष, पृ. 110 | 16. वही, पृ. 60 |
| 11. उद्धृत, राजेन्द्र यादव, ‘तमस’ : रचनात्मक दबावों की | 17. वही, पृ. 62 |
| | 18. वही, पृ. 182 |
| | 19. उद्धृत, डॉ. जोगिंद्र कुमार संधू, भीष्म साहनी के उपन्यासों में त्रासदीय यथार्थ, पृ. 63 |
| | 20. तमस, पृ. 47 |
| | 21. वही, पृ. 45 |
| | 22. (सं.) निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी, हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, पृ. 81 |

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

तमस और साम्प्रदायिकता की समस्या

सतीश कुमार

साम्प्रदायिकता के संदर्भ में 'तमस' पर चर्चा करने से पूर्व साम्प्रदायिकता को समझ लेना आवश्यक है। हिंदी शब्द सागर में साम्प्रदायिकता का अर्थ दिया गया है- "(i) किसी सम्प्रदाय से संबंध होने का भाव (ii) सम्प्रदाय के प्रति कट्टरता का भाव। दूसरे सम्प्रदाय के अहित पर अपने सम्प्रदाय की हित रक्षा।" "मानविकी पारिभाषिक कोश" में साम्प्रदायिकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा गया है- "किसी समुदाय विशेष के हितों का आग्रह। समाज यद्यपि एक इकाई होता है, फिर भी उसमें विभिन्न मत, सम्प्रदाय एवं वर्ग होते हैं। आवश्यकता तो इस बात की होती है कि विविध सम्प्रदाय समाज के कल्याण को दृष्टि में रखें। परन्तु कभी-कभी ऐसा नहीं होता और विविध सम्प्रदाय अपने-अपने हितों की रक्षा की होड़ में समाज में दूसरों के हितों का हनन करने लगते हैं। इस हीन अर्थ में साम्प्रदायिकता शब्द का प्रयोग होता है।"²²

साम्प्रदायिकता के लिए अंग्रेजी में 'कम्युनलिज्म' शब्द प्रचलित है। "कम्युनलिज्म का ऐतिहासिक जन्म फ्रांस में स्थापित 'कम्युन' से है जिसके तहत एक वर्ग के लोग विशेष स्थान पर रहने के कारण संगठित रूप से निजी मिले-जुले प्रयासों से उत्पादन व वितरण की प्रनिजी मिले-जुले प्रयासों से उत्पादन व वितरण की प्रक्रिया चलाकर भरण-पोषण और प्रशासनिक संगठन चलाते थे। कम्यून का सूत्रपात मैत्री, संगठन भ्रातृत्व बढ़ाने के लिए हुआ था। लेकिन यह बाद में अपने संगठन के प्रति लगाव व दूसरे संगठन के प्रति अलगाव होने से कम्यूनल बन गया। इस दृष्टि से अपने-अपने संगठनों में प्रत्येक व्यक्ति कम्यूनल है। भावना के दूषित हो जाने से वह वातावरण को भी दूषित कर देता है।"²³

साम्प्रदायिकता वह संकुचित निष्ठा है जो एक जाति दूसरी जाति से, एक धर्म के लोगों को दूसरे धर्म के लोगों से, एक सभ्यता-संस्कृति को दूसरी सभ्यता-संस्कृति के प्रति

घृणा, द्वेष और दुराग्रह रखने के लिए प्रेरित करती है। जिसके फलस्वरूप सामाजिक तनाव और संघर्ष की स्थिति बनती है। देशकाल का अन्तर साम्प्रदायिकता के रूप में भी अन्तर प्रस्तुत करता है। अंदरूनी समस्याओं की विशिष्टता के कारण आज भारत में विभिन्न राज्यों में साम्प्रदायिकता का स्वरूप एक जैसा नहीं है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता पूर्व की साम्प्रदायिकता एवं आज की साम्प्रदायिकता में काफी फर्क है। कदाचित् यही कारण है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं में भी फर्क है।

डॉ. विलफ्रेड के अनुसार, "साम्प्रदायिकता अथवा जमातवाद एक ऐसी विचार प्रणाली है जिसमें अलग-अलग धर्म मानने वाले समाज स्वरूप को उनके धर्म के आधार पर ही स्वतंत्र-सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गुट के रूप में प्रस्तुत करने का जोरों से प्रयास किया जाता है। इस अलगाववाद का समर्थन करने के लिए इन समूहों में आपसी वैमनस्य, भेद और वैमनस्य को प्रखरता के साथ प्रगट किया जाता है।"²⁴ साम्प्रदायिकता के आशय को स्पष्ट करते हुए प्रो. विपिनचंद्र ने इस विचारधारा के तीन तत्त्वों की ओर संकेत किया है। साम्प्रदायिकता या साम्प्रदायिक विचारधारा के तीन तत्त्व या चरण होते हैं और उनमें एक तारतम्य होता है। "इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक ही धर्म को मानने वालों के सांसारिक हित-यानी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित भी एक जैसे ही होते हैं। ... साम्प्रदायिक विचारधारा का दूसरा तत्त्व यह विश्वास है कि एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न हैं। साम्प्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या समुदायों के हित एक दूसरे के विरोधी हैं। इस चरण में आकर साम्प्रदायिक व्यक्ति जोर देकर यह कहने लगता है कि

हिंदुओं और मुसलमानों के सांसारिक हित एक हो ही नहीं सकते। उनमें परस्पर विरोध होना ही है।”⁵

प्रोफेसर रोहिणी अग्रवाल साम्प्रदायिकता को संकीर्ण मानसिकता की उपज मानती हैं। उनके अनुसार- “असल में साम्प्रदायिक द्वेष कुछ और नहीं, व्यक्ति की उसी संकीर्ण असहिष्णु मानसिकता का प्रतिफलन है जो समान धर्मियों में जातिगत वैमनस्य और विधर्मियों में पहचान पाता है।”⁶

असगर वजाहत साम्प्रदायिकता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- “किसी समुदाय विशेष में दूसरे समुदाय विशेष के लिए धार्मिक विश्वासों या इतर कारणों से घृणा, द्वेष तथा हिंसा की भावना का प्रदर्शन साम्प्रदायिकता कही जाएगी।”

साम्प्रदायिक तनावों एवं हिंसा के कारण राष्ट्रीय एकता में बाँधा पहुँचती हैं। क्योंकि दो सम्प्रदायों के बीच पूर्वाग्रह तथा प्रतिरोधी भावनाएँ जन्म पाती हैं। यदि प्रशासन ऐसी स्थितियों में प्रभावशाली कदम नहीं उठाता तो अल्पसंख्यकों का बहुसंख्यकों तथा प्रशासन से विश्वास उठ जाता है। राष्ट्रीय एकता के लिए सबसे बड़ा खतरा तब पैदा होता है जब कोई समूह संकुचित हितों के लिए राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं को अस्वीकार कर देता है और अलगाववाद का समर्थक बन जाता है।

अतः यह कहना गलत न होगा कि साम्प्रदायिक विचारधारा से किसी भी समुदाय या राष्ट्र का हित नहीं हो सकता। यह मिथ्या भ्रम है कि किसी दूसरे सम्प्रदाय या समुदाय का दमन करके, कोई समुदाय अपनी समृद्धि को प्राप्त कर सकता है। ऐसे में एक सम्प्रदाय, दूसरे सम्प्रदाय के दमन का कारण बनता है। परिणामस्वरूप मनुष्यता का ह्रास होता है।

यह मानना कि जब दंगे शुरू होते हैं तभी साम्प्रदायिकता की समस्या पैदा होती है, सही नहीं। वस्तुतः साम्प्रदायिकता की समस्या का जन्म बच्चे में साम्प्रदायिक संस्कारों के जन्म के साथ होता है। एक बच्चे को जन्म से ही अपने सम्प्रदाय की विरासत मिलती है। माँ-बाप अगर संकीर्ण साम्प्रदायिकता का शिकार हैं तो वे अपने बच्चे में भी संकीर्ण धारण भर देंगे। हिन्दू अपने बच्चे में मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव भर देगा और इसी तरह मुसलमान भी अपने बच्चे में हिन्दुओं के प्रति विरोध, वैमनस्य तथा विद्वेष के संस्कार भरेगा। यह संस्कार तब और भी प्रौढ़ हो जाता है जब बच्चा बड़ा होकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच तनाव तथा भेदभाव को देखता है। लेकिन जब दोनों सम्प्रदाय आपस में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक सम्बन्ध बनाते हैं तब साम्प्रदायिकता

के संस्कार भी मंद पड़ जाते हैं। साम्प्रदायिकता के उक्त संस्कारों के निर्माण में मनुष्य का समूचा परिवेश, परंपरा, हित, स्वार्थ, ज्ञान, जीवन-स्तर, जीवन-स्थिति तथा सामाजिक होनी-अनहोनी का संकल्प-विकल्प सक्रिय रहता है। मनुष्य की चेतना को निर्धारित करने वाले तमाम तत्त्व तथा भाग-प्रभाग साम्प्रदायिकता के संस्कार निर्माण में अपनी भूमिका निभाते हैं। इनमें से धर्म और राजनीति का पार्ट अधिक मुखर तथा सशक्त है।

भारत अभी 66वाँ गणतन्त्र दिवस मना रहा है। लेकिन स्वतन्त्रता के इतने वर्ष बाद भी भारत ‘अंधेरे में’ है तो इसका एक प्रमुख कारण यह है कि भारतीय जनता के मनोजगत पर अभी भी साम्प्रदायिकता का तमस छाया हुआ है। यद्यपि भीष्म साहनी का ‘तमस’ स्वतन्त्रता-पूर्व भारत के हिन्दुओं-सिखों और मुसलमानों के आपसी वैमनस्य की, उस वैमनस्य के कारणों, परिणामों और उससे जुड़े संदर्भों को प्रतिबिम्बित करता है तथापि वह साम्प्रदायिकता के जिस तमस पर प्रकाश डालता है, वह आज भी अपनी समस्त विभीषिका के साथ भारतीय जन-मानस के क्षितिज को आवृत्त किए हुए है। इसीलिए ‘तमस’ की कथा “स्वतन्त्रता के बाद की भी कथा लगने लगती है, सिर्फ इस अन्तर के साथ कि स्वतन्त्रता से पहले इन दंगों के सूत्रधार अंग्रेज हाकिम होते थे और अब उनके चले जाने के बाद यह कार्य-भार साम्राज्यवादी शक्तियों और उनके पिट्टुओं ने अपने कन्धे पर ले लिया है।”⁸ मुजफ्फरनगर और सहारनपुर के साम्प्रदायिक दंगे इनके तरोताजा उदाहरण हैं।

डॉ. बलभीमराज गोरे ‘तमस’ का सीधा सम्बन्ध विभाजन से न मानकर साम्प्रदायिकता से मानते हुए लिखते हैं- “तमस का सीधा संबंध विभाजन से नहीं प्रत्युत विभाजन के पहले देश के कोने-कोने में फैली साम्प्रदायिकता से है। ऐसी ही साम्प्रदायिक घटनाओं के चलते देश विभाजन हुआ और अंग्रेज अपनी नीति में सफल रहे।”⁹ ‘तमस’ उपन्यास के बारे में डॉ. चमनलाल का विचार भी उल्लेखनीय है- “तमस विभाजन के दर्द का नहीं उपनिवेशवाद की षडयंत्रकारी कुटिल नीतियों का भी प्रामाणिक दस्तावेज है।”¹⁰

‘तमस’ उपन्यास को समझने के लिए भीष्म साहनी का स्वकथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। “ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने साम्प्रदायिकता के हथियार का इस्तेमाल करके, किस प्रकार भारतीय नागरिकों के वैमनस्य का अन्धकार फैलाया और जिसका दुष्परिणाम 1947 के भयानक दंगों के रूप में सामने आया, उसी दुष्परिणाम की एक झलक मार्च 1947 में

रावलपिंडी के इन पाँच दिन के दंगों में मिलती है, जिसे आधार बनाकर भीष्म साहनी ने 'तमस' की रचना की।¹¹

दो खण्डों में विभाजित इस उपन्यास के कथानक का प्रारम्भ साम्प्रदायिक दंगा कराने की पूर्वनिर्धारित योजना से हुआ है। नत्थू को सूअर मारने का कार्य एक निश्चित षड्यंत्र के तहत सौंपा गया था। अर्थात् दंगा हो नहीं रहा, करवाया जा रहा है। नगर के सामान्य जीवन में साम्प्रदायिक वैमनस्य की भावना कैसे उभारी जा रही है, अंग्रेज नौकरशाही इसे कैसे भड़का रही है, हिन्दू-मुसलमानों के संगठन लोगों को किस ओर ले जा रहे हैं, सम्प्रदायों के आधार पर मुहल्ले कैसे बँटते जा रहे हैं, इत्यादि तमाम बातों का वर्णन छोटे-छोटे प्रसंगों के माध्यम से कथाकार ने पहले खण्ड में किया है। उपन्यासकार के शब्दों में, "मुहल्ले के बीच लकीरें खिंच गई थीं और मुसलमान के मुहल्ले में हिन्दू-सिख अब नहीं आ-जा सकते थे। आँखों में संशय और भय उतर आये थे।"¹² स्कूल, कॉलेज, दफ्तर आदि के साथ आम लोगों के दरवाजे और खिड़कियाँ भी बंद हो गई थी। सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह थी कि सब कुछ जानते हुए भी तत्कालीन प्रशासन ने चुप्पी साध ली थी। ऐसे तनावपूर्ण माहौल में बख्शी जी को शहर के आसार बुरे लगते हैं और वे अपनी आशंका को कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "अब शहर पर चीलें उड़ेंगी।"¹³ उपन्यास के दूसरे खण्ड में लेखक ने गाँव में फैल रहे साम्प्रदायिक तनाव का वर्णन किया है। साम्प्रदायिक वैमनस्य की आग सामान्य मनुष्य को किस प्रकार से पूर्णतः जला डालती है, इस खण्ड में देखा जा सकता है।

उपन्यास के आरम्भ में ही यह साफ दिखाई देता है कि साम्प्रदायिकता का जहर समाज की नस-नस में फैल चुका है अब इस जहर का इलाज असंभव है। चारों ओर वैमनस्य की भावना व्याप्त है। कांग्रेस के स्वयंसेवक 'कौमी नारा वंदेमातरम्', 'भारतमाता की जय', 'महात्मा गाँधी की जय' के नारे लगा रहे हैं तो मुस्लिम लीग के कार्यकर्ता 'पाकिस्तान ज़िंदाबाद', 'कायदे आजम ज़िंदाबाद' का उद्घोष कर रहे हैं। हिन्दू और मुस्लिम दोनों संगठन इस साम्प्रदायिकता को फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। मुस्लिम लीग साम्प्रदायिक गतिविधियों को हवा देने में लगी हुई है। वे किसी भी कीमत पर पाकिस्तान लेने के लिए कृतसंकल्प हैं। वे खुद को मुसलमानों की एकमात्र संस्था तथा कांग्रेस को हिंदुओं की संस्था के रूप में प्रचारित कर रही है। "कांग्रेस हिंदुओं की जमात है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की। कांग्रेस मुसलमानों की रहनुमाई नहीं कर सकती।"¹⁴ मुस्लिम लीग का मानना

है कि "हिन्दुस्तान की आज़ादी हिन्दुओं के लिए होगी, आज़ाद पाकिस्तान में ही मुसलमान आज़ाद होंगे।"¹⁵

साम्प्रदायिक तनाव का यह माहौल उस समय विकराल रूप धारण कर लेता है जब मस्जिद की सीढ़ियों पर सूअर की लाश मिलती है। इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुराद अली ने सूअर डॉकटरी काम के लिए नहीं मरवाया था बल्कि इसके पीछे एक गहरी चाल थी। जिसका संचालन कोई बड़ी ताकत कर रही है। हिन्दू-मुस्लिम के रिश्तों में दरार पैदा की जा रही है। यह चाल सफल होती है। सूअर की लाश फेंकने का बदला मुस्लिम समुदाय द्वारा खुलेआम गाय की हत्या करके लिया जाता है। दोनों समुदाय एक-दूसरे को मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं।

अलगाव के इन क्षणों में हिन्दू संगठन भी साम्प्रदायिकता को हवा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनका गुस्सा मुसलमान और कांग्रेस दोनों पर है। पुण्यात्मा वानप्रस्थ जी को साप्ताहिक सत्संग में साम्प्रदायिकता के जहर को फैलाने का अवसर भी उपलब्ध हो जाता है और वे इस अवसर का पूरा फायदा उठाते हुए कहते हैं-

"फैलाए घोर पाप यहाँ मुसलमीन ने

नेअमत फलक ने छीन ली, दौलत जमीन ने।"¹⁶

सत्संग के बाद मंदिर में सभा होती है। आत्मरक्षा व आक्रमण की तैयारियों पर चर्चा की जाती है। वानप्रस्थ जी मुसलमानों से आत्मरक्षा के लिए हिन्दुओं को कहते हैं कि "सभी सदस्य अपने-अपने घर में एक-एक कनस्तर कड़वे तेल का रखें। एक-एक बोरी कच्चा या पक्का कोयला रखें। उबलता हुआ तेल शत्रु पर डाला जा सकता है, जलते अँगारे छत पर से फेंके जा सकते हैं।"¹⁷ सभा के प्रधान द्वारा दो सौ लाठियाँ खरीदकर बाँटने की घोषणा ने इस सुरक्षा कार्य को और अधिक मजबूती प्रदान की। अखाड़ा संचालक मास्टर देवव्रत भी रणबीर जैसे युवकों को मारकाट के लिए तैयार कर रहे हैं।

'तमस' उपन्यास में चित्रित हर घर डरा, सहमा और त्रस्त है, जगह-जगह आग की लपटें उठ रही हैं। सिख-तुर्कों से बदला लेने के लिए गुरुद्वारे में एकत्र हो जाते हैं। सोहन सिंह, देवव्रत आदि इन दंगों को रुकवाने का प्रयास करते हैं, किन्तु धर्मांधता की लड़ाई की आँधी में उनकी बात कोई सुनता नहीं है। गाँव में बढ़ती तुर्की मुसलमानों की टोलियाँ देखकर स्त्रियाँ भी बलिदान के लिए तैयार हो जाती हैं। हरनाम सिंह के बेटे को जबरदस्ती मुसलमान बनाया जाता है। तुर्क गुरुद्वारे पर हमला बोल देते हैं। युद्ध में सभी सिख

मारे जाते हैं और उनकी स्त्रियाँ बच्चे समेत कुँए में कूद जाती हैं। चारों ओर मौत, चीख-पुकार, आगजनी का बोलबाला था। भय और आतंक का काला साम्राज्य चारों ओर छाया हुआ था। ऐसी सभी घटनाएँ मन को दहला देने वाली हैं। लेखक के शब्दों में- “चारों ओर हाहाकर मचा था। लपलपाती आग थी। ... इस चीत्कार से घरों के किवाड़ तोड़ने की आवाजें आने लगी थी। कस्बों में शुरुआत शुरू हो गई थी।”¹⁸ सारी साम्प्रदायिक ताकतें इन दंगों को भड़काने में लगी हैं। उन्हें इस आग में झुलस रहे आम आदमी की जरा भी चिंता नहीं है।

‘तमस’ में वर्णित साम्प्रदायिक घटनाओं और उन घटनाओं के परिणामों को लेकर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो एक बात बहुत ही स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि साम्प्रदायिक दंगे चाहे जो करवाएँ नुकसान आम आदमी का ही होता है। गरीब लोग ही सबसे अधिक संख्या में मारे जाते हैं या बर्बाद होते हैं। इस संदर्भ में रामचंद्र तिवारी ‘तमस’ की भूमिका में लिखते हैं- “तमस की ज़िंदगी छोटी-बड़ी लड़ाइयों की कहानी नहीं। यह विभाजन जैसी ऐतिहासिक घटना का, संघर्ष का वह महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसमें एक साथ लाखों लोग अपने-अपने ठिकानों से उखड़े थे।”¹⁹ भीष्म साहनी इन साम्प्रदायिक समस्याओं का मूल कारण अज्ञान और अंधविश्वास पर चलने वाले धर्म को मानता है। ऐसा धर्म ऊपरी भेदों के कारण इंसान को इंसान से अलग करके आपस में लड़ा देता है। इसीलिए वे धर्म के ऊपरी भेद को फालतू मानते हैं। लेखक के अनुसार मनुष्य अपनी व्यक्तिगत हैसियत में निर्दोष है, उसे दोषी बनाती हैं सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था। ‘तमस’ में वर्णित साम्प्रदायिकता इसी व्यवस्था की देन है।

‘तमस’ विभाजन-पूर्व के अंग्रेज शासकों की नीति पर भी प्रकाश डालता है। रिचर्ड एक योग्य एवं सफल प्रशासक है। उसे भारतीय संस्कृति से लगाव है पर वह उस व्यवस्था का एक अंग भी है जो ‘येन-केन प्रकरण’ अपनी सत्ता की जड़ों को मजबूती से जमाए रखना चाहती है। वह समय पर दंगों को रोकने का कोई उपाय नहीं करता क्योंकि वह इन दंगे-फसादों को अंग्रेजी शासन की जड़ों को और भी स्थिर करने वाला समझता है। वह अपनी पत्नी लीजा से कहता है- “अगर प्रजा आपस में लड़े तो शासकों को किस बात का खतरा है।”²⁰ उसका यह कथन स्पष्टतः अंग्रेजी व्यवस्था की ‘फूट डालो और राज करो’ की मनोवृत्ति का परिचायक है। ब्रिटिश शासकों द्वारा लोगों को अलगाव एवं पारस्परिक संघर्ष

के द्वारा विभाजित कर देना, उनकी शासकीय नीति का एक अंग रहा है। “हुकूमत करने वाले यही नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक दूसरे से अलग हैं।”²¹ और इन्हीं बातों का उपयोग कर वे अपनी सत्ता को सुरक्षित बनाए रखने के लिए करते हैं।

‘तमस’ साम्प्रदायिक अंधकार की कहानी है पर इस अंधकार में भी प्रकाश के कुछ बिखरे कण हैं जो पाठक पर अपनी चमक छोड़ जाते हैं। बंतो और उसको शरण देने वाली राजो का व्यक्तित्व इन्हीं कणों से निर्मित हुआ है। “मनुष्यता एकदम मरती नहीं, वह ज़िंदा रहती है, भले ही कुछ लोगों में ज़िंदा रहे। और कभी-कभी तो उसका गला घोटना क्रूर व्यक्ति के लिए भी चुनौती की तरह हो जाता है।”²² ‘तमस’ में रमजान, हरनाम सिंह को मारने के लिए दो-तीन बार कुल्हाड़ी उठाने की कोशिश करता है पर वह उसे उठा नहीं पाता। मजहबी जुनून और नफरत के माहौल में भी एक पतली-सी लकीर अर्थात् मनुष्य के भीतर छिपी-दबी मनुष्यता को उपन्यास में जगह-जगह पकड़ने और उभारने की कोशिश की है।

उपन्यास के अन्त में लेखक फिर उसी शहर में लौट आता है जहाँ से कथा शुरू की थी और दंगे समाप्त होने के बाद के हालात बयान करने लगता है। यह प्रसंग अनेक टूटी-बिखरी घटनाओं की जोड़-बटोर है। लेखक यह नतीजा निकालना चाहता है कि यह सारा खून-खराबा कितना व्यर्थ था। अन्त तक आते-आते सारी चीज़ इतनी नकारात्मक और निराशाजनक हो जाती हैं कि पाठक ज्यादा-से-ज्यादा एक अवसाद में डूब सकता है, समस्या से जूझने की दिशा में प्रेरित करने के लिए या तो लेखक के पास कोई तरीका बचता नहीं, या फिर वह जान-बूझकर ऐसा रुख अपनाता है, ताकि पाठकों पर अपनी कोई राय थोपने की बजाय उन्हें उनके ही दंग से सारी चीज़ समझने का मौका दे सके।

सन्दर्भ-

1. (सं.) श्यामसुंदर दास, हिन्दी शब्द सागर, पृ. 503
2. (सं.) डॉ. नगेन्द्र, मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य कोश), पृ. 48
3. डॉ. यशवन्त विष्ट, साम्प्रदायिकता एक चुनौती और चेतना, पृ. 48
4. उद्धृत, डॉ. सुभाष दुरुगकर, राही मासूम रज़ा का कथा साहित्य, पृ. 157

शेष पृ. 14 पर.....

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यासों में चित्रित समस्याएँ

नीलम रानी

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' को उनके राष्ट्रवादी व क्रान्तिकारी लेखन के लिए जाना जाता है। इनका जन्म उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले के 'चुनार' नामक गाँव में हुआ। पारिवारिक अभावों के कारण वे व्यवस्थित शिक्षा न ग्रहण कर सके लेकिन अपने नैसर्गिक प्रतिभा और साधना से वे अपने समय के अग्रणी सफल गद्य शिल्पी के रूप में प्रतिष्ठित हुए। अपने भावों के विशेष तेवर और सुगठित शैली के कारण उग्र जी अपने समय के चर्चित लेखक रहे। प्रतिभा इनमें ईश्वर प्रदत्त थी। इन्होंने बचपन से ही काव्य रचना करना आरम्भ कर दिया था। अपनी किशोरावस्था में ही इन्होंने प्रिय प्रवास की शैली में 'ध्रुवचरित' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना कर डाली। ये महाकवि निराला के अच्छे मित्र थे।

हिन्दी साहित्य आकाश के देदीप्यमान नक्षत्रों में 'निराला' ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनके साथ पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की तुलना की जा सकती है।¹

साहित्यकार के रूप में 'उग्र' जी को विशेष ख्याति प्राप्त है। इनके उपन्यासों में सामाजिक विद्रूपताओं का वस्तुपरक वर्णन किया गया है। इन्होंने अपने उपन्यासों में समाज की बुराइयों को, उसकी नंगी सच्चाई को बिना किसी लाग-लपेट के बड़े साहस के साथ, किन्तु सपाट बयानबाजी से प्रस्तुत किया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन्हें बाल्यकाल से ही समाज के विविध रूपों, पक्षों और वर्गों को विभिन्न स्थानों और परिस्थितियों में देखने का अवसर मिला। जीवन के कटु-मधुर अनुभवों के मध्य भी वे बर्हिमुखी बने रहे। अनुभवों की विशुद्धता ने उनके साहित्यिक कृतित्व को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया।²

अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में 'उग्र' ने दस उपन्यास लिखकर हिन्दी उपन्यास साहित्य को समृद्ध बनाया। इनका प्रथम उपन्यास 'चन्द हसीनों के खुतूत' सन् 1922 में प्रकाशित हुआ और उनकी अंतिम कृति 'जुहू' सन् 1963 में

प्रकाशित हुई। उनकी मृत्यु के समय उनका नवीनतम उपन्यास 'स्वाहा' समाप्त प्रायः था। परन्तु उसका प्रकाशन अभी तक नहीं हो पाया है। उनके उपन्यासों के अध्ययन से प्रकट होता है कि 'उग्र' का दृष्टिकोण प्रारम्भ में आदर्शवादी था, परन्तु धीरे-धीरे वे यथार्थवाद की ओर उन्मुख हुए और 'जीजाजी' उपन्यास 1955 के पश्चात् उन्होंने कोई आदर्शवादी उपन्यास नहीं लिखा। उनके अंतिम तीन उपन्यास 'कढ़ी में कोयला', 'फागुन के दिन चार' एवं 'जुहू' पूर्णतया यथार्थवादी हैं।³

लेखक और चिन्तक के रूप में 'उग्र' सामाजिक समस्याओं के प्रति सदैव जागरूक रहे। उनके अधिकांश उपन्यास किसी न किसी समस्या को लेकर लिखे गए हैं। 'कढ़ी का कोयला' नामक उपन्यास (स्वयं द्वारा लिखित) की भूमिका में वे लिखते हैं... 'चन्द हसीनों के खुतूत' हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर आधारित है। 'मनुष्यानन्द' (बबुआ की बेटी) में अछूत समस्या है। 'दिल्ली का दलाल' में भगाई हुई युवतियों की समस्या है। 'शराबी' उपन्यास का विषय उनके नाम से ही विदित है।⁴

उनके उपन्यासों में मुख्य रूप से प्रतिपादित समस्याएँ इस प्रकार हैं-

1. साम्प्रदायिकता की समस्या
2. अस्पृश्यता की समस्या
3. अपहृत स्त्रियों की समस्या
4. वेश्यावृत्ति की समस्या
5. सुरापान की समस्या

1. साम्प्रदायिकता की समस्या

'उग्र' जी द्वारा लिखित लोकप्रिय उपन्यास 'चन्द हसीनों के खुतूत' जिस समय प्रकाशित हुआ, उस समय की ज्वलन्त समस्या-हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डालता है। उपन्यास की कथावस्तु उक्त समस्या के

कारणों और दुष्परिणामों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करती है। हिन्दू धर्म और इस्लाम के सिद्धान्तों को सही रूप में न समझने के कारण और अपने पूर्वाग्रहों के कारण दोनों धर्मों के बहुसंख्यक अनुयायी परस्पर अविश्वास और घृणा करते हैं। उपन्यासकार ने अपनी उपर्युक्त कृति में साम्प्रदायिक वैमनस्य पर एक समाधान प्रस्तुत किया है। वह यह है कि सभी धर्मों का मूल संदेश मनुष्य के मनुष्यत्व का उन्नयन और पशुत्व का दमन है। अतः सभी धर्मों का सार प्रेम है, जिसके सम्मुख जाति, सम्प्रदाय और प्रथा के बंधन गौण हैं।

प्रयाग के प्रसिद्ध एवं कुलीन ब्राह्मण जयकृष्ण शर्मा अवकाश प्राप्त डिप्टी कलेक्टर हैं। उपन्यास का नायक मुरारीकृष्ण उन्हीं का एकमात्र पुत्र है। उपन्यास की नायिक नर्गिस लखनऊ के प्रसिद्ध रईस खानबहादुर मुहम्मद हुसैन की पुत्री है। हाकी में कुशल खिलाड़ी मुरारीकृष्ण नर्गिस के मन को भा जाता है और मुरारीकृष्ण भी नर्गिस की सुन्दरता पर मुग्ध हो उससे प्रेम करने लगता है। दोनों का प्रेम इतना सहज, दृढ़ और सच्चा है कि दोनों ही धर्म, जाति और प्रथा की बाँधाओं को हटाकर एक-दूसरे को अपनाने के लिए तत्पर हैं। मुरारीकृष्ण की दृष्टि में उनके पुत्र का यह अक्षम्य दुष्टाचार सनातन धर्म की मर्यादा के विरुद्ध है। वह कहता है, 'मैं मुसलमान हूँ। खुदापरस्त, इस्लामपरस्त और मजहबपरस्त हूँ। मैं इस बात को हर्गिज बर्दाश्त नहीं करता कि मेरी बहन, किसी गैर कौम वाले के साथ ब्याही जाय। मैं नर्गिस को जहर देकर मार डालूंगा, अपना गला घोटकर मर जाऊंगा, मगर इस बेइज्जती से बचने की कोशिश करूंगा-बचूंगा।'⁵

2. अस्पृश्यता की समस्या

मनुष्य को मनुष्यत्व की ऊँचाई से पशुत्व की गहराई में गिराने वाला अन्य कारण है अस्पृश्यता। जाति के कारण किसी मनुष्य के साथ अन्याय करना मनुष्यता के विरुद्ध जघन्य अपराध है। यह अपराध साम्प्रदायिक विद्वेष से भी अधिक अहितकर है, क्योंकि अस्पृश्यता का समर्थक व्यक्ति अपने ही धर्म के अनुयायी अन्त्यजों से घृणा करता है जिसका औचित्य किसी भी दृष्टि से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अस्पृश्यता के अधार्मिक, अनैतिक, अतार्किक और अमानवीय रूप को ही 'उग्र' अपने उपन्यास 'मनुष्यानन्द' में सशक्त रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास का उद्देश्य मानवीय मूल्यों की स्थापना और शोषितों के लिए मानवीय अधिकारों की प्राप्ति है।

'अस्पृश्यता' हिन्दू जाति और धर्म के माथे पर एक कलंक का टीका है। इसके कारण समाज और देश का अहित

तो होता ही है, अपितु विदेशियों की दृष्टि में देश अपमानित भी होता है। मनुष्यानन्द के शब्दों में- "इस देश में इकतीस करोड़ लोग हैं।... छह करोड़ तो ऐसे हैं जिन्हें इस देश के हिन्दू नामधारी मूर्ख अछूत समझते हैं, पर बाकी के पच्चीस करोड़ ऐसे अछूत हैं जिन्हें सारा संसार अस्पृश्य, पतित, पृथ्वी का भार और गुलाम समझता है। प्रकृति भी, ईश्वर भी थप्पड़ का जवाब थप्पड़ से देता है महोदय। हम छह करोड़ से नफरत करते हैं। हमसे सारा संसार नफरता करता है। हम नफरत बोते हैं, नफरत काटते हैं।"⁶

भारत में दुरावस्था का शब्दों में वर्णन करना कठिन है। एक अछूत के ये शब्द भारत के अछूतों की दयनीय अवस्था का कुछ ज्ञात कराते हैं- "सुबह शाम जब पैसे वाले, अपने को 'ऊँच' लगाने वाले लोग ईश्वर चिंतन और हवा खोरी की तैयारी करते हैं उस वक्त हम क्या करते हैं? या तो कूड़ागाड़ी की गन्दी हवा से अपनी सांसों में जहर भरते हैं या पाखानों में झाड़ू देकर अपने माथे पर मैले का मुकुट धारण कर, पतितों के सरदार की तस्वीर बनते हैं और इतना करने पर भी हम लोग प्लेग या हैजा, खाँसी या बुखार से मरते रहें, कोई हमें पूछने वाला नहीं। कोई हमारी दवा-दारू की फिक्र करने वाला नहीं। यह नरक भोग नहीं तो और क्या है?"⁷

3. अपहृत स्त्रियों की समस्या

'दिल्ली का दलाल' नामक यथार्थवादी उपन्यास में 'उग्र' ने अपहृत, विकृत और अनिच्छा से वेश्यावृत्ति करने वाली अबलाओं की करुण कहानी को प्रस्तुत किया है। स्त्रियों के अद्यःपतन के लिए उत्तरदायी दो वर्गों-समाज के पाखंडी नेताओं और उनके अनुत्तरदायित्व और दृढ़धर्मी से प्रोत्साहन पाकर स्त्री अपहरण, विक्रय और वेश्यावृत्ति को लाभकर अनैतिक व्यापार के रूप में ग्रहण करने वाले समाज विरोधी तत्त्वों के क्रिया-क्लापों और दुष्टताओं का विशद् विवेचन उपन्यासकार ने अपनी इस कृति में प्रस्तुत किया है।

"इस उपन्यास की सीरी, मुन्नी तथा राजमती अपहृताओं के पतन और उद्धार की करुण कहानी है। कानपुर के वैश्यकुल की कुलवधू सीरी चन्द्रग्रहण के समय गंगा स्नान जाते समय अपनी सास और पड़ोसिनों से बिछुड़कर छद्मवेशी अब्दुल्ला के हाथों में पड़ जाती है। अब्दुल्ला नारी-विक्रय, वेश्यावृत्ति आदि अनैतिक व्यापारों को चलाने वाले गिरोह का मुखिया है। कुछ महीने सीरी को अपने पास रखकर वह उसे सन्तू नामक एक वेश्यालय चलाने वाले को दो सौ रुपये में बेच देता है। सीरी में सेवावृत्ति, वात्सल्य और पति परायणता है। वह सन्तू की पत्नी रूप में रहना चाहती है, लेकिन सन्तू

नारी को क्रय-विक्रय की वस्तु समझता है। यहाँ जो सीरी के जीवन की विडम्बना है, वो हिन्दू समाज की अधिकांश अपहृताओं के जीवन की विडम्बना है।”

उपन्यास की अन्य अपहृता मुन्नी की जीवन गाथा भी दुर्भाग्यपूर्ण है। कलकता के धनिक व्यापारी की पुत्री और जयपुर के धनाढ्य व्यापारी की पत्नी मुन्नी पीर के वेश में रहने वाले एक दुष्ट के पास पहुँच जाती है जो उसे अब्दुल्ला के हाथों बेच देता है। अब्दुल्ला उसे सन्तू को बेच देता है। इस प्रकार सीरी की भाँति मुन्नी को भी अपनी इच्छा के विरुद्ध वेश्यावृत्ति करनी पड़ती है।

उपन्यास की तीसरी पतिता नारी राजमती विधवा ब्राह्मणी है, जो गाँव के जमींदार झालरसिंह के प्रलोभन में आकर उससे गर्भवती हो जाती है, उसे समाज द्वारा बहिष्कृत किया जाता है। इसी उपन्यास का एक पात्र धिनहू पांडे कहते हैं- “मैं कहता हूँ कि ... राजमती का ही है। औरतें काठ की हांडी होती हैं, मर्द नहीं। मई तो हमेशा पाक-साफ है। शास्त्रों में एक ही ब्याह औरतों का लिखा है, मर्दों का नहीं। मर्द तो बीस बार बीसों दूसरी औरतों से शादी कर सकता है। तो क्या औरत भी वह करेगी?”

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सीरी, मुन्नी और राजमती जैसी निरपराध स्त्रियाँ अज्ञान और अन्धविश्वास के कारण दुष्टों द्वारा अपहृत की जाती हैं। दुष्टों के शिकंजों से मुक्ति दिलाना तो दूर परिवार और समाज के पुरातनपंथी व्यक्ति उन्हें ही अपराधी मानकर उन्हें सन्तू और अब्दुल्ला जैसे नरपशुओं के हाथों में पड़े रहने देते हैं। ये स्त्रियाँ उद्धार किए जाने पर सद्गृहिणियाँ बन सकती हैं- इस बात पर समाज का नेतृवर्ग ध्यान नहीं देता है जो उसके अविवेकी का ही परिचायक है।⁸

4. वेश्यावृत्ति की समस्या

‘शराबी’ नामक उपन्यास के माध्यम से खानदानी वेश्या कुंदन के चरित्र के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों में भी सद्गृहिणी बनने की इच्छा बनी रहती है। ऐसी स्त्रियाँ वेश्याओं के नारकीय जीवन को व्यतीत करने के लिए इसलिए बाध्य होती हैं कि समाज उन्हें सद्गृहिणी बनने के योग्य नहीं समझता। ‘जुहू’ में वर्णित वेश्या हुस्ना (मनोरमा) पुरुषों की स्वार्थपरता से अधिकाधिक पतन की ओर अग्रसर होती है और बाद में उसके दत्तक पुत्र रामजी की प्रेयसी बनकर उससे अर्थ प्राप्ति में उसे कोई अनौचित्य नहीं मालूम

पड़ता है। सेठ भोलानाथ उससे कहते हैं- “बाप और बेटा दोनों ही पर पाप का फंदा डालने में तुम्हें शर्म नहीं आती?” तब हुस्ना भोलानाथ को ही अपराधी ठहराते हुए कहती है कि - “शर्म जनाब को आनी चाहिए-जो युगों तक रुपयों के बल पर मुझ-सी औरतों को पति से, प्रतिष्ठा से और पतिव्रत से अलग करते रहे हैं। आप ही जैसों से हरामीपन का सबक सीख मुझ जैसियां न तो बाप की उम्र देखती हैं और न बेटे की। हमें तो चाहिए रुपया-रुपया।”⁹

5. सुरापन की समस्या

स्त्री के पतन की अंतिम सीमा उसके नारीत्व का विनाश है तो पुरुष के अद्यःपतन की पराकाष्ठा उसके मनुष्योचित गुणों का तिरोभाव है। ‘शराबी’ नामक उपन्यास में उपन्यासकार मद्यपान के भयंकर दुष्परिणाम का चित्रण करता है। इसमें दो प्रतिष्ठित और उच्चकुलीन व्यक्तियों को इस दुर्व्यसन के कारण विनाश को प्राप्त होते दिखाया गया है। पारसनाथ सिंह और पुन्नलाल नामक दो व्यक्तियों के जीवन से यह सिद्ध होता है कि सुरापन प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह दुर्बल चरित्र हो अथवा आत्म नियंत्रणवान हानि पहुँचाता ही है। जवाहर के शब्दों में- “शराब शरीर से लेकर आत्मा तक का नाश करने वाली डायन है।”¹⁰

इस प्रकार हम देखते हैं कि ‘चन्द हसीनों के खुतूत’ में साम्प्रदायिक विद्वेष, मनुष्यानन्द में अस्पृश्यता, ‘दिल्ली के दलाल’ में स्त्री-अपहरण एवं वेश्यावृत्ति, शराबी में मद्यपान की समस्या को उपन्यासकार ने विस्तृत एवं वस्तुपरक ढंग से निरूपित किया है।

संदर्भ-

1. कन्हैया लाल मिश्र ‘प्रभाकर’, औधड़ कलाकार ‘उग्र’, पृ. 11
2. पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’, कढ़ी में कोयला, पृ. ख
3. वही, पृ. 18
4. वही, पृ. 18
5. वही, चन्द हसीनों के खुतूत, पृ. 35-36
6. वही, मनुष्यानन्द, पृ. 76
7. वही, पृ. 129
8. वही, दिल्ली का दलाल, पृ. 110
9. वही, जुहू, पृ. 30
10. वही, शराबी, पृ. 68

म. नं. 1999, सेक्टर 16-17, हिसार (हरियाणा)

भक्तिकालीन सामाजिक आन्दोलन और कबीर का गतिशील नेतृत्व

संजीव कुमार विश्वकर्मा

मध्यकालीन समाज का जो ढाँचा था, वह इतना अधिक विकृत हो चुका था कि उसे सम्हाला जाना एवं सुधारना सम्भव नहीं था। क्योंकि देश की राजनीतिक स्थिति, देश की सामाजिक व्यवस्था को बहुत गहराई तक प्रभावित करती है। इसलिए जब राजनीतिक स्थिति संतुलित नहीं रहती तब सामाजिक स्थिति भी संतुलित नहीं रह सकती। उस समय का समाज दो वर्गों में बँटा हुआ था। एक वर्ग हिन्दुओं का था तथा दूसरा वर्ग मुसलमानों का था। हिन्दू और मुसलमानों दोनों में आत्मीयता नहीं थी। उनमें ऊँच-नीच की भावना विद्यमान थी। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था जातिगत, वंशगत, ऐश्वर्य एवं ऊँच-नीच की भावना पर आधारित थी ऐसी स्थिति में समाज विषम परिस्थितियों से लड़ रहा था। वर्ण व्यवस्था में विश्वास रखने वाले हिन्दू छुआछूत में विश्वास रखते थे। हिन्दू कन्याओं को सम्पन्न मुसलमान क्रय करके या अपहरण करके ले जाते थे। “देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?”¹ फलतः भक्ति के द्वारा मानव जीवन के अवरुद्ध मार्ग को पुनः संचालित किया गया। भक्ति आन्दोलन समाज में रूढ़ हो चुकी सड़ी-गली मान्यताओं के परित्याग तथा जनमानस में नवीन चेतना को आविर्भूत कर, खोखली सामाजिक व्यवस्था के पुनर्गठन का बृहद् प्रयास था। भक्ति आंदोलन

प्राचीन भारतीय ज्ञान एवं दर्शन की अविच्छिन्न धारा है जिसका प्रवाह एवं प्रभाव व्यापक एवं शक्तिशाली है। अपने व्यापक प्रभाव के कारण बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, इस्लाम आदि धर्मों और पंथों की उदात्त और मंगलकारिणी धारणाओं को अपने गर्भ में समेट लेने के कारण भक्तिकाल की महत्ता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। यह आंदोलन व्यापक मानवीय मूल्यों को लेकर चला था जिसके आधार पर कोई भी समाज सभ्य और मानवीय होने का दावा कर सकता है। भक्ति आंदोलन कोई नया आंदोलन नहीं था। इसकी जड़ें तो बहुत गहरी हैं क्योंकि भक्ति का मूल उद्गम तो हमें वेदों से ही दिखाई पड़ने लगता है। जहाँ श्रद्धा और प्रेमानुरक्ति से देवताओं पर ऋचाएँ लिखी गईं। महाभारत काल में विष्णु को भगवान रूप में प्रतिष्ठा मिली। इसका प्रमाण गीता है जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का श्रेष्ठ समन्वय हुआ है। “इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में बना रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लंगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदय विहीन क्या निष्प्राण रहता है।”² वस्तुतः ज्ञान, भक्ति और कर्म एक दूसरे के पूरक हैं जिसका स्वरूप हमें भक्तिकाल में दिखाई देता है। जहाँ सभी संत, समाज की विषमताओं को दूर करके एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें एकता और समानता हो।

भक्ति आंदोलन भारतीय इतिहास में एक ऐसी सांस्कृतिक घटना है जिसने लगभग तीन सौ वर्षों तक भारतीय समाज को अनुप्रमाणित किया है। विभिन्न वर्गों तथा वर्ण-व्यवस्था से जर्जर सामाजिक भेदभाव की भावना से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के धार्मिक भेद, कर्मकाण्ड एवं विधि-निषेधों से संचालित भारतीय जीवन में भक्ति आंदोलन का प्रादुर्भाव हुआ जिसके द्वारा प्रतिपादित मानवीयता एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी इस भक्ति का स्रोत दक्षिण से विस्तार पाकर उत्तर भारत तक फैल गया था। “यह पहला भारतीय नवजागरण था जो

कश्मीर से कन्या कुमारी और गुजरात से असम तक फैला हुआ था। अपनी-अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण यह कहीं 6-7वीं शताब्दी में फैला कहीं 12-13 वीं शताब्दी में तो कहीं 15 वीं शताब्दी में।”³ भक्ति आंदोलन किसी विशेष वर्ग, वर्ण या सम्प्रदाय का आंदोलन नहीं था। इसमें हिन्दू, सिख, मुसलमान, कारीगर, किसान, व्यापारी, जुलाहे, संत महात्मा सभी शामिल थे।

मध्यकाल में जिस तरह राजनैतिक क्रांति ने जोर पकड़ा था उसी तरह समाज में वैचारिक क्रांति ने भी अपना प्रखर रूप धारण किया था। इस क्रांति में न जाने कितनी महान् विभूतियों ने अपने अविस्मरणीय व अमूल्य योगदान द्वारा इस आंदोलन की लहर को वेग प्रदान किया। किन्तु स्मरण रहे कि ये विभूतियाँ कहीं बाहर की नहीं अपितु इसी शोषित एवं दलित समाज की पीड़ाओं के बीच से ही अस्तित्व ले रही थी। इस आंदोलन को मुखर रूप देने वाले पुरोधे के रूप में कबीर की भूमिका अद्वितीय है। रामानंद के प्रमुख बारह शिष्यों में कबीर को बहुत अधिक प्रसिद्धि मिली। कबीर अपने समय के लोकनायक रहे हैं। वे समाज की विसंगतियों को दूर कर ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें सम्प्रदाय को आधार बनाकर झगड़े न हों और मनुष्य मात्र समान समझा जाये-“हम तो एक-एक करि जाँना।/दोई कहै तिनही कौ दो जग, जिन नॉहिन पहिचाँना।।/एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।/एक ही खाक घड़े सब भाँड़े, एक ही सिरजन हारा।।”⁴

भक्ति काल के ज्ञानाश्रयी शाखा के श्रेष्ठ हस्ताक्षर संत कबीर एक हरफनमौला सामाजिक आलोचक की भूमिका में थे तथा वंचितों पिछड़ों, पद प्रतिष्ठा से परे अति सामान्य जनमानस को भी निर्गुण साधना के माध्यम से भक्ति की ज्ञान गंगा में गोता लगवा रहे थे। वह एक ऐसा देश रचना चाहते थे जहाँ सभी (राजा, रंक) मुक्ति की कामना के साथ रह सके और इसके लिए ही कबीर ने सफाई के लिए खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया को अपनाया। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों की कट्टरता तथा जातीय विद्वेष की भावना पर तीव्र और तीखा आघात कर उन्हें चेताया है कि दोनों में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। एक ही परम ज्योति से राजा, रंक, ब्राह्मण, शूद्र सभी का उद्भव हुआ है-“एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।/एक जोति कै सब, उतपनो कौन ब्राह्मण को सूदा।।”⁵

भक्ति काल कर्मकाण्डियों, प्रेमियों और अशिक्षित जनमानस को एक साथ भक्ति का अवसर प्रदान करता है तथा द्वैत और अद्वैत के स्थापित भेद को नकारते हुए पुरातन

रूढ़िग्रस्त सामाजिक अवधारणा में परिवर्तन का विगुल बजाता है। ऐसे में समाज द्वारा निर्मित पुरातन वर्ण व्यवस्था में कबीर जुलाहा वर्ग से आते हैं और सभी जानते हैं कि जुलाहे का कार्य निर्माण का होता है विध्वंस का नहीं। इसी नाते कबीर के पदों में ईश्वर का रूप ही जुलाहा है और जुलाहा ही ईश्वर। वस्तुतः स्पष्ट है कि ईश्वर किसी का अहित नहीं करता वो तो सब के हित की बात करता है। सच्चा मार्ग दिखाता है। सच्चा मार्ग दिखाने के लिए कबीर ईश्वर को जपने उसका स्मरण करने की बात करते हैं- “भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।/मनसा बाचा कर्मनाँ, कबीर सुमिरण सार।।”⁶

कबीर अपने समय के उन धार्मिक और सामाजिक बिन्दुओं को अपने चिन्तन का विषय बनाते हैं जो मानव-मानव में भेद-भाव सिखाते हैं। वह अहंकार से मुक्ति में ही मानव-जीवन की सार्थकता को देखते हैं। अहं से मुक्ति उनकी प्रखर विचारधारा का लक्ष्य था। चूँकि मध्यकालीन समाज वर्ण-भेद आधारित था जहाँ अमीर-गरीब का अंतर है, धर्म और जाति का अंतर। सामन्तीय पुरोहितवाद ने स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए मानव-मानव के बीच दीवारें खड़ी कीं। इस विषय में कबीर भविष्य के प्रति उदासीनता की सोच पर रात-रात भर जागते हैं और आँसू बहाते हैं- “सुखिया सब संसार है खावे अरु सोवे।/दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवे।।”⁷

यह सिर्फ एक चिन्तक की ही दारुण दशा नहीं है बल्कि भयाकांत समाज का प्रतिबिम्ब है। जिसमें आम-जनमानस का कुछ भी अपना नहीं है केवल आँसू ही अपने थे। इसीलिए कबीर जाग रहे हैं और रो रहे हैं क्योंकि कबीर देश के सांस्कृतिक नवजागरण के पुरोधे थे। उन्होंने अपने समय में जिस युग सत्य का साक्षात्कार किया था उसे देखकर कबीर जैसा संवेदनशील निष्ठावान व्यक्ति रो ही सकता है। यही रोना कबीर को विद्रोही बना देता है। जो समाज को नई दिशा दिलाने में सार्थक प्रयत्न करता है। कबीर कहते हैं-“हम घर जाल्या आपणों, लिया मुराड़ा हाथि।/अब घर जालौं हास का, जै चलै हमारे साथि।।”⁸

रामानंद की शिष्य परम्परा में कबीर के अतिरिक्त अनेक बड़े संत कवि हुए जिन्होंने मुक्तक लिखा। किन्तु कबीर का उद्देश्य कविता लिखना नहीं था। कबीर संत पहले हैं कवि बाद में। क्योंकि उनकी कविता में संदेश प्रधान है- छंद, अलंकार गौण। “अलंकारों से सुसज्जित न होते हुए भी उनके संदेश काव्यमय हैं। कबीर भावना की अनुभूति से युक्त, उत्कृष्ट रहस्यवादी, जीवन का संवेदनशील संस्पर्श करने वाले और मर्यादा के रक्षक कवि थे। उन्होंने स्वतः कहा है- “तुम जिन जानों गीत है, यह निज ब्रह्म विचार्य” पथ भ्रष्ट

समाज को उचित मार्ग पर लाना ही उनका प्रधान लक्ष्य है।¹⁰ संतों की भक्ति निर्गुण मानी जाती है। इसी आधार पर कबीर की भक्ति भी निर्गुण ढाँचे की है उनकी भक्ति पद्धति आडम्बरों से मुक्त सहज तथा सरल थी। क्योंकि कबीर का साधना मार्ग ज्ञान का न होकर भक्ति का है जिसमें प्रेम तत्त्व प्रधान है। वह प्रेम तत्त्व इसलिए कि कबीर समाज की जिस जनता के बीच में अपनी भक्ति को ले जाना चाहते थे वह अनपढ़ थी। यदि वह अन्य शब्दावली को जनता के समक्ष रखते तो उसे समझने में कठिनाई होती और कबीर लोक से जुड़े मीमांसक थे। लोक की रीति परम्परा को देखकर ही उन्होंने निर्गुण भक्ति का मार्ग अपनाया। कबीर के समय समाज के निम्नवर्गीय जनता ईश्वर की सगुण उपासना से पूर्णतः वंचित थी। सगुण उपासना के केन्द्र में समाज की उच्चवर्गीय जनता ही थी। निम्नवर्गीय जनता का देवालय में प्रवेश वंचित था। इसका एकमात्र कारण छुआछूत था। ऐसे तत्कालीन दिशाहीन समाज को नई दिशा देने के लिए कबीर निर्गुण भक्ति लेकर सामने आते हैं और समाज में प्रचलित मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं। कबीर का कहना है कि संसार के प्रत्येक कण-कण में ईश्वर का वास है। सभी मनुष्य उसी परमेश्वर की संतान हैं जिसको प्रत्येक मनुष्य प्राप्त करना चाहता है तब यह भेद कैसा कि उसे सिर्फ उच्च वर्ग के लोग प्राप्त कर सकें निम्न वर्ग के नहीं इसीलिए कबीर ने निर्गुण ईश्वर के स्मरण की बात कही- “निर्गुण राम जपहूँ रे भाई, अविगति की गति लखी न जाइ। चारि वेद जोके सुमृत पुराँनाँ नौ व्याकरनाँ मरम न जाँना।”¹⁰

कबीर की इस भक्ति में पुस्तकीय ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि परमेश्वर में अटूट लय ही मुक्ति के लिए पर्याप्त है। ज्ञान तो संसार की गुत्थी में उलझा देता है। इसीलिए कबीर प्रेम और भाईचारे को सर्वोपरि मानते हैं और समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव का विरोध करते हैं। कबीर ने भक्ति के द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए खोलकर सबको उसका अधिकारी बताया है। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं क्योंकि सबकी रचना उन्हीं पाँच तत्त्वों से हुई है जिसका सृष्टा परम पिता परमेश्वर एक ही है। वस्तुतः भक्ति का द्वार सभी व्यक्ति के लिए एक समान खुलना चाहिए। क्योंकि ऊँचे कुल में जन्म लेने मात्र से व्यक्ति ऊँचा नहीं हो जाता- “ऊँचे कुल का जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होई। सेवन कलस सुरे भरया, साधू निंघा सोई।”¹¹

कबीर ने साधारण जनता को सम्प्रदाय की संकीर्णता से मुक्त कराते हुए परस्पर घुलने-मिलने की प्रेरणा दी। उन्होंने

परम्परा के ढोंग या प्रदर्शन के बाह्य स्वरूप का विरोध किया। उन्होंने सामंतवाद की जड़ों पर कठोर प्रहार करते हुए समाज को नई दिशा दी। कबीर की वाणी तत्कालीन व्याप्त कुरीतियों से समाज को बाहर निकालना चाहती थी। जहाँ जाति, धर्म, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय आदि से परे एक ऐसा सरल मार्ग हो जिस पर सभी समान रूप से साथ-साथ चल सकें उन्होंने इस प्रक्रिया में कर्म को धर्म से जोड़ा। जिसे श्रीकृष्ण, अर्जुन को गीता में उपदेशित कर आए थे- “केवल कर्म करन अधिकारी, ना फल पे अधिकार तिहारी। कीजिये कर्म नहीं फल हेतु, नाहि अकर्मनता गति ले तू।”¹²

भक्ति आंदोलन को कबीर ने नए आयाम दिये। “कबीर पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों वर्णों को नकारकर ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया जिसमें धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। उनके समाज में न कोई हिन्दू है, न मुसलमान सब मनुष्य हैं कोई किसी से छोटा बड़ा नहीं है। पीड़ित, शोषित, अपमानित जन समाज के दुःख से जितना सरोकार कबीर का है उतना भक्तिकाल के किसी अन्य कवि का नहीं। उनका गैर समझौतावादी व्यक्तित्व अलग से चमकता है।”¹³ उन्होंने ऐसी प्रतिभा पाई थी जिसकी ज्योति, योग, तन्त्र भक्ति के अध्यात्मिक क्षेत्रों में ही नहीं वरन् मानव जीवन के व्यावहारिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी प्रकाशित हुई।

कबीर मध्यकाल के क्रांतिकारी पुरुष थे। यह क्रांति की भावना उनमें विद्यमान कुंठा का द्योतक है जो व्यक्तिगत न होकर सामूहिक है। जिसने समाज में उथल-पुथल मचा दी। इस क्रांति के माध्यम से सम्पूर्ण समाज में व्याप्त वैषम्य का विरोध करके उसमें एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। परोपकार, सेवा, दया, क्षमा, दान, धैर्य, साहस और अहिंसा का प्रचार-प्रसार कर जन जीवन में पवित्र आचरण और सात्विकता की वृद्धि पर जोर दिया। उनका मूल उद्देश्य जनता को जगाने का था। इसलिए सामाजिक एवं धार्मिक विद्रूपताओं के प्रति आक्रोश व्यक्त कर समाज को सुव्यवस्थित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया और ईश्वर की एकता को प्रतिपादित कर हिन्दू और मुसलमान में एकता स्थापित की। वस्तुतः कबीर मानवीय धर्म की ऊँचाई के प्रतीक हैं। वे अन्त्यज होकर भी उच्चतम वर्ग के लिए भी अपनी प्रतिभा से प्रभावित करने वाले महाकवि हैं युग नियामक हैं। उन्होंने मानव के हृदय में मानव को स्थापित किया। उनकी विचारधारा पुरातनता के विरोध में निखरती ही चली गयी। इसी आधार पर कबीर

मध्यकाल के होते हुए भी सदा सर्वदा के लिए एक महान् विचारक, चिन्तक, समाज सुधारक तथा लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

संदर्भ-

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद 2012, पृ. 35
2. वही, पृ. 35
3. डॉ. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति 2012, पृ. 75
4. (सं.) श्यामसुन्दर दास, कबीर, ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 82
5. वही, पृ. 82
6. वही, पृ. 4
7. वही, पृ. 09
8. वही, पृ. 53

9. (सं.) डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2012, पृ. 120
10. कबीर, ग्रंथावली, पृ. 81
11. वही, पृ. 37
12. मनीष चंद्र झा, गीत गीता, संस्कार भारती, सहरसा 2014, पृ. 28
13. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ. 91

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर (म.प्र.)

पृ. 32 का शेष भाग

इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालीनता का अर्थ जहाँ समसामयिकता से जुड़ा हुआ है वहीं समकालीन कविता उस समसामयिकता को चित्रित करने की एक विधा है जो न केवल अपने समय से सवाल करती है बल्कि उसे रेक्टिफाई भी करती है। 'खुद पर निगरानी का वक्त' वास्तव में कवि का कथन भर ही नहीं है बल्कि वर्तमान समस्याओं से कवि और यथार्थ की मुठभेड़ भी है, सृजन-अनुष्ठानों, टेंट हाउसों की पोल-खोल करती हुई।

संदर्भ-

1. नंदकिशोर नवल, समकालीन काव्य यात्रा की भूमिका
2. रोहिताश्व, समकालीन कविता और सौन्दर्यबोध
3. चन्द्रकांत देवताले, गुजर गया दो हजार दस, पृ. 37
4. वही, पृ. 37
5. वही, पृ. 39
6. सात नवम्बर 2011, पृ. 41
7. वही, पृ. 42

8. इंतजार करो, तुम कतार में हो, पृ. 43
9. वही, पृ. 43
10. वही, पृ. 44
11. इतने दरख्त और पत्ता तक नहीं खड़कता, पृ. 46
12. वही, पृ. 47
13. शर्मिदा हैं हम तो आप अपनी जानें, पृ. 61
14. झाड़ू के कारण संक्षिप्त चिंतन, पृ. 77
15. वही, पृ. 78
16. खुद पर निगरानी का वक्त, पृ. 123
17. वही, पृ. 124

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक मूल्यों का विघटन

मीनाक्षी

सामाजिक जीवन को बड़ी निकटता से देखना, परखना और अपने विचारों की कसौटी पर जाँचना ही एक सामाजिक संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, अंधविश्वास, अलगाववाद, सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह का स्वर, सामाजिक मूल्यों का विघटन तथा सामाजिक होते हुए भी मनुष्य के एकाकीपन को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करता है। भौतिकवाद के पीछे दौड़ता आज का समाज संवेदनहीन होता जा रहा है। उसकी संवेदनाएँ मृतप्रायः हो चुकी हैं। इस भौतिकतावाद की तीव्र लालसा की भूख ने समाज के व्यक्तियों के दृष्टिकोण में विकास चाह के साथ-साथ उसके रिश्ते, व्यवहार एवं विश्वास के रुख को बिल्कुल ही बदल दिया है। आज के समाज का यह कटु सत्य समाज के समक्ष अपने सकारात्मक रवैये के साथ-साथ नकारात्मक रुख के भी दर्शन करवा रहा है जो शायद समग्र रूप से उसके हित में नहीं है इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि मानव ने अपने सामाजिक मूल्यों को जो उसके जीने की मर्यादाओं से बँधे हुए है उनका परित्याग कर और समाज की चिन्ता से बेपरवाह होकर सिर्फ स्वयं के लिये जीने का रास्ता अपनाया है जिसमें शर्म, हया कुछ भी दिखाई नहीं देती है। भौतिकतावादी मायाजाल में बाँधकर वह न जाने किस मृग-मरीचिका के आकर्षण में भटक गया है।

असल में आज़ादी के बाद हुए विकास ने जहाँ समाज को कुछ स्तरीय आयाम दिए हैं वहीं जीवन के हर क्षेत्र में सामाजिक मूल्यों का विघटन बड़ी तीव्रता से हुआ है। विकास के साथ-साथ इच्छाओं का बढ़ना और उनकी पूर्ति हेतु प्रयास करना बड़ा दुर्लभ कार्य हो गया है क्योंकि यह माँग एवं पूर्ति के सिद्धान्त को भी फेल कर देता है जहाँ माँग एवं इच्छाओं के अनुपात में निरन्तर फासला कम होने या समान होने की बजाय बढ़ता ही जा रहा है। जिसके परिणाम कभी सकारात्मक नहीं हो सकते। असीमित आकांक्षाएँ बेबसी और मजबूरी को ही जन्म देती है जिनके कारण इन्सान की सेवा एक दिखावा बनकर रह जाती है। मीडिया को ही लीजिए जिसे अखबारों

के मूल्यों के प्रति निष्ठावान होना चाहिए वह भी अपने व्यावसायिक हित के लिए औरत की नंगी तस्वीरें पेश करने को अपनी प्राथमिकताओं में शुमार कर लेता है। देखा जाये तो उसके पास न तो सपना है और न ही समाज के प्रति कोई प्रतिबद्धता। मीडिया तो बस एक उद्योग में तब्दील हो चुका है। लाभ अर्जित कर सत्ताधारी को दबाव में रखना ही उसका एकमात्र उद्देश्य बन गया है। 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास में उपन्यासकार प्रदीप सौरभ टी. वी. चैनलों के विषय में सामाजिक मूल्यों के विघटन की पुष्टि इस तरह करते हैं कि, "एंकर बनने के लिए लड़कियों को क्या-क्या नहीं करना पड़ता है। इसके लिए बॉस के साथ शराब पीने से लेकर बिस्तर गर्म करने तक कोई भी कीमत चुकानी पड़ती है। बॉस का अगर किसी पर दिल आ गया है तो उसे आत्म समर्पण करना ही होगा। वरना कई-कई महीनों नाइट ड्यूटी करनी पड़ेगी। रातों रात यहाँ दस-दस हजार के इन्क्रीमेंट हो जाते हैं।"¹¹

चैनलों की चमक के चक्कर में बहुत-सी आधुनिक एवं स्वतन्त्र विचारों वाली लड़कियाँ पहले से ही यह सोचकर आती हैं। इस तथ्य की पुष्टि उपन्यासकार इस तरह करते हैं कि, "उन्हें अपनी खूबसूरती को अपनी तरक्की के लिए इस्तेमाल करना है। इसमें उन्हें नैतिकता और अनैतिकता कुछ भी नहीं आती है, उन्हें तरक्की का यह शार्टकट समझ आ जाता है। लेकिन कुछ समझौता नहीं करती हैं। नतीजन वे ज्यादा दिन चैनल में नहीं रहती हैं या फिर उन्हें नेपथ्य में ऐसा काम मिलता है जो उनकी योग्यता से बहुत कम होता है।"¹²

इधर-उधर गलत लोगों के चक्कर में फँसी एक लड़की को रंगीन सपने दिखाकर बम्बई ले जाने वाला लड़का उससे काफी अंट-शंट काम कराकर पैसे कमाता है और फिर वह उसे छोड़कर रफू चक्कर हो जाता है। इस प्रकार इस आधुनिक रंग में रंगे रंगीन तबीयत के नौजवान युवक एवं युवतियाँ अपने सामाजिक सरोकारों को किस प्रकार मूल्यहीन बना डालते हैं। 'अकेला पलाश' में उपन्यासकार मेहरुन्निसा परवेज बिमला

के ही शब्दों में बड़ा सटीक चित्रण करती है, “हारी थकी-सी अपने घर लौटी तो घरवालों ने घर में रखने से इन्कार कर दिया। भटकते हुए साधुओं के चक्कर में फँस गयी, जहाँ बाल मुडँवाकर चेली बन गयी। फिर वहाँ से भी भाग गई। कई-कई आश्रमों में घूमी, पर अन्त में ऊँची जगह पहुँच गई और बस वहीं से नौकरी की शुरुआत हुई। छोटी जगह कोई दूसरा आने को तैयार नहीं होता, पर अभी भी घमंड खत्म नहीं हुआ।”³

प्रताप सहगल के उपन्यास ‘प्रियकान्त’ में ‘विश्व शान्ति मिशन’ बनाने का उद्देश्य परोक्ष रूप से कथनी और करनी के अन्तर में सामंजस्य स्थापित करने का आधार था। प्रियकान्त ने मिशन को रजिस्टर्ड करवाकर उसकी नींव को मजबूती प्रदान की थी। उसके लिए सार्वजनिक रूप से उच्च नैतिक मूल्यों की बात करने वाले आचार्य ने खामोशी से रजिस्ट्रेशन के लिये रिश्तत स्वरूप प्रोफेशनल फीस अदा की थी। तब शेखर सोचने लगा, “सुविधा शुल्क, चाय-पानी, आबोदाना, कितने महात्मा गाँधी, प्रोफेशनल फीस, प्रोटेक्शनल मनी, हफ्ता न जाने कितने नाम हैं रिश्तत के महान भारत में।”⁴ इस लहजे में सामाजिक मूल्यों के विघटन की तस्वीर का पर्यायवाची स्वरूप पेश किया गया है।

मेहरून्निसा परवेज ने समय के यथार्थ से आँखें नहीं चुरायी। वे सामाजिक जीवन में मानवीय मूल्यों के विघटन को बखूबी से समझती हैं। आज जबकि मनुष्य मानवीय मूल्यों को भूलता जा रहा है, भूलता ही नहीं जा रहा अपितु देखा जाए तो भूल चुका है। उसने इन्सानियत के स्थान पर शैतानियत का चोला पहन लिया है। उसके वहशीपन तथा दरिदंगी भरे रूप को उसने अपने उपन्यास ‘अकेला पलाश’ के बाबू के चरित्र के माध्यम से चित्रांकन किया है। मीनाक्षी पांडे तहमीना को बताती है, “मैडम बाबू तो बहुत बदमाश है। पूरा डाकू है डाकू। पता नहीं कितनी लड़कियों की जिन्दगी बरबाद कर चुका है। एक के साथ प्यार किया, फिर जब उसे गर्भ रह गया तो उल्टी-सीधी दवा देकर मार डाला, जब वह मर गई तो पुलिस में रिपोर्ट करने से पहले उसके घर से सारा सोना-चाँदी, बर्तन ले आया, तब रिपोर्ट की। वह औरत बेचारी विधवा ठकुरानी थी, बहुत रईस थी, खूब सोना जोड़कर रखती थी।”⁵

सामाजिक मूल्यों के ह्रास को अलका सरावगी अपनी औपन्यासिक रचना ‘एक ब्रेक के बाद’ में एक पत्नी द्वारा अपने पति के व्यवहार को वेदनामयी इबारत में लिखती है, “किसी दूसरे की चेतना पर हावी होकर उसे यातना देना क्या मनुष्यता है ताकि वह तुम्हारी तरह सोचने लगे? तुम मेरी

खाल उधेड़ लो मेजर, पर मैं गुरु को नहीं छोड़ूंगी। तुमने मेरे बच्चे तक में अपनी नफरत का जहर घोल दिया है। यही सही। पछतावा किसे होगा, यह तो समय बोलेगा। यों भी तुम्हारे साथ बिताई जिन्दगी, जिसमें तुम ताकत से मेरे हर सच को झूठ और अपने हर गलत को सही साबित करते रहे, उसका क्या मुझे कम पछतावा है? गुरु मेरी एक मात्र उम्मीद है, हमेशा था और रहेगा।”⁶

अलका सरावगी वर्तमान की परिस्थितियों को जिनसे मानव अपने मूल्यों को अपनी नैतिकता को न जाने कहाँ छोड़ आया है, को अपने उपन्यास में यह रिलैक्ट करने को तरजीह दे रही है कि मानव अपना उल्लू सीधा करने और धन-दौलत की तीव्र लालसा की पूर्ति हेतु सामाजिक व्यवस्था एवं मूल्यों की किस प्रकार अनदेखी कर देते हैं। के.वी. अपने दिल में छिपी अपनी आन्तरिक भावनाओं को किस अतृप्त रूप में कुरेदते हैं, “माँस मछली खाने वाली मेरी पत्नी को हमारे ब्राह्मण मोहल्ले के लड़के पीछे से ‘माछेर झोल’ कहकर आवाज देते, जब वह मेरे माँ-बाप से मिलने जाती। वे लोग हमारी शादी में नहीं आए। शादी करवाने को उन दिनों कोई तमिल पंडित भी तैयार नहीं हुआ। अब तो पैसों के लिए लोग जहाँ बोलो चले जाते हैं।”⁷

आखिरी कलाम उपन्यास में उपन्यासकार दूधनाथ सिंह ने एक सन्दर्भ में समाज में विभिन्न सोच रखने वाले लोगों के माध्यम से सामाजिक मूल्यों के विघटन का पुख्ता प्रमाण पेश किया है जो उनके विभिन्न वर्णों की सोच को विभिन्न बदरंगों में विभिन्न मुद्राओं के चित्रों में अंकित किए हैं, “लोगों का कहना है कि बच्चा उन्हें सुबह की सैर के वक्त कूड़े के ढेर पर मिला। कुछ निन्दकों का विचार है कि आचार्य जी एक ईसाई नर्स से फँसे थे और यह बच्चा उसी नर्स का है।”⁸ इस तथ्य की प्रमाणिकता को चुगलखोर और बोरियत के शिकार वक्त काटने वाले अपनी व्याख्या को गम्भीरता का जामा पहनाकर इसकी सत्यता को कूटकर कपड़धान से निकालते हैं, “... गायत्री अपने बच्चे का हक छोड़ना नहीं चाहती थी और चूँकि उसके पति को वह अमेरिकी मादा भेड़िया गैब्रिचला उठा ले गई और क्योंकि अब वह अशुद्ध हो चुका है, अतः उसने लाचारी में जहर का यह कड़वा घूँट पिया और लौट आई।”⁹ कुछ सामाजिक लोग इसी सत्य का इस तरह बखान करते हैं कि “गायत्री का पिता कहीं दूर देश उधर मराठावाड़ा में नीली आँखों पर असक्त हो गये। जजमान कोंकणस्थ ब्राह्मण था। सो गायत्री के पिता अपने उस चले के यहाँ अक्सर जाने लगे। इस बार गए तो उनका पता ही नहीं

चला कहीं मर-खप गए। परन्तु इस बार ब्राह्मण शिष्य ने उनकी बड़ी आव भगत की। गुरु महाराज अर्थात् गायत्री के पिता जी भोजन बनाकर जब उसका विधिवत भोग लगाने बैठे और ज्योंहि उन्होंने “अन्नं ब्राह्मं” के चारों ओर जल छिड़ककर घेरा बनाया, जजमान का गँडांसा खच्च से उनकी गर्दन पर पड़ा उनका सिर उनकी थाली में था।”¹⁰

मेहरून्निसा परवेज ने अपनी औपन्यासिक कृति में लोकलाज के कारण घुट-घुट कर मर जाने के लिये औरत पैदा नहीं हुई और न ही उच्च पद पर विराजमान मनुष्यों को औरत से झूठ-फरेब से भरे प्यार के नाटक करने का अनैतिक अधिकार है। तुसार द्वारा किए गए दिखावा भरे छल-कपट के प्यार में तहमीना से किए गया प्यार और उसका बर्ताव उसके मूल्यों का गिरता स्तर उसकी नज़रों में सजा के रूप में शब्दों की पीड़ा में उगलता है। तहमीना कड़वी हँसी हँस दी, “इससे बड़ी सजा दूसरी सजा हो सकती है? जिन्दगी के चैलेंज को स्वीकार कर पैरो पर खड़ा होना ज्यादा कष्टदायक स्थिति है न कि जिन्दगी से भागने पर मुँह छुपाकर भागने वाले क्या सजा भोगेंगे?”¹¹

सामाजिक मूल्यों के पतन के विषय में यहूदी लेखक प्राइमों लेवी की इन पंक्तियों को अलका सरावगी ने अपनी इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक की विख्यात कृति ‘एक ब्रेक के बाद’ में बड़े ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है, “उस क्षण हमें इलहाम हो गया कि हम एक दमगर्त में पहुँच गए हैं। इससे नीचे गिरा नहीं जा सकता। आदमी इससे ज्यादा यातना नहीं पा सकता। हमारे पास कुछ नहीं है- घर, आदतें, कपड़े-वह एक खोरवल है। उन्होंने हमारे कपड़े-जूते, हमारे बाल तक ले लिए हैं। हमें मनुष्य होने तक की गरिमा की याद नहीं है। अपने लिए कुछ भी रचा नहीं है। एकदम तल तक गिर गया है।”¹²

इम्तियाज, सुनन्दा और आनन्द जैसे पत्रकार ‘बीच की धूप’ उपन्यास में देश की परिस्थिति की मौजूदा हालत एवं हालातों के यथार्थ के मध्य नज़र तत्कालीन सामाजिक मूल्यों की निष्ठा को किस प्रकार से समाज में रहने वाले ही लोग नष्ट कर रहे हैं जो अपने आपको अपनी जाति, सम्प्रदाय और धर्म के प्रतिष्ठित शख्स मानते हैं। महीप सिंह जैसे सशक्त रचनाकार इम्तियाज के शब्दों में उससे रू-ब-रू करवाते हैं, “जिस समाज में हम जीते हैं, उसमें से जात-पात और ऊँच-नीच मिटा सकना किसी पहाड़ को तोड़ सकने से किसी प्रकार से कम नहीं था। फरहाद ने तो अपनी शादी के लिए पहाड़ तोड़कर दूध निकाल दिया था। यहाँ होता तो वह

करते-करते उसके दम छुट जाता है।”¹³ आनन्द इस्लाम का पक्ष लेते हुए उसे जात-पात के बँधन से बाहर की सोच बताता है। तब इम्तियाज समाज के मूल्यों को अपने समाज में भी गिरते हुए पाते हैं, “इस बला से मुसलमान भी आजाद नहीं हैं। एक कुंजड़े का लड़का अगर एक पठान की लड़की से मोहब्बत कर बैठे तो पठान उसकी गर्दन नापे बिना नहीं छोड़ेगा। बिहार में एक लड़की जुलाहों की धानुको के लड़के से प्रेम करते हैं। दोनों ही मुसलमान। जुलाहे भोगते हैं। मगर परिणामस्वरूप जुलाहों ने दोनों का दरख्त से रस्सी बाँधकर फाँसी पर लटका दिया।”¹⁵ क्या यह जायज है? क्या ये हमारे लिये अपनी प्रतिष्ठा को बचाने का सही रास्ता है? अनेकानेक ऐसे सामाजिक प्रश्न समाज में तैर रहे हैं जिनका सही समाधान खोजने की बजाय अपने झूठे अहम् को बनाए रखने के लिये अपनी सार्थक सोच को क्रियान्वित करने के बदले सदियों से बनाए सामाजिक मूल्यों को दरकिनारे कर असमंजस्य की ऊहापोह की स्थिति बनाये रखी जाती है जो किसी भी दृष्टि से वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के साथ मेल नहीं खाती है जबकि समाज पहले की तुलना में अधिक शिक्षित एवं विवेकशील होता जा रहा है। ऐसे में तो मानवीय मूल्यों की सशक्त पहचान समाज को विकास की राह पर ले जाने को अग्रसर हो तो भविष्य के लिए काफी बेहतर हो सकता है। इस प्रकार लेखक सामाजिक मूल्यों की गिरावट नैतिक गिरावट को प्रतिबिम्बित कर इस ज्वलंत समस्या के समाधान के प्रति समय रहते सचेत कर अपने कर्तव्य को निष्ठापूर्वक निभाते हुए दिखाई देते हैं।

हिजाब एवं जुल्मो-सितम के बीच पिसती हुई औरतों की दुर्दशा का अनैतिक यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपनी औपन्यासिक श्रेष्ठकृति ‘शिगाफ’ में किया है। वह नारी के मान-सम्मान को बर्फ के टुकड़ों की तरह चूर-चूर होते हुए उनके अस्तित्व एवं अस्मिता को पिछलते हुए पाकर देखकर उसे अस्तित्वहीन रूप में दिखाती है, “उन्हें न समाज में कोई आसरा है..... न सरकार से। वे अपने होंठ सिये घातक मानसिक रोगों तथा हताशाओं का शिकार होती जा रही हैं। ...बहुत सहन करके तो पृथ्वी भी विचलित हो जाती है, उसमें भी दरारें आ जाती हैं, वे तो बेटियाँ हैं... इस जमीन की असहाय औरतें। वे खामोश हैं सीने में हजारों जख्म छिपाकर। जीते जी चले जाने की विवशता में घुन-सी पिस रही है।”¹⁵ ‘दुःखम-सुखम में ममता कालिया ने कालीचरण की संवेदना में लरजते-दरकते मूल्यों की यथार्थ अनुभूति को इस तरह समेटा है, “उसने विदा

के समय इन्दु को काफी रुपये शगुन के तौर पर दिये थे। इन्दु ने बहुत मना किया रहने दो भैया, पहले ही तुम्हारा बहुत खर्च हो गया।” तब कालीचरण की आँखें पनिया गयी। उन्हें लगा अपनी इस छोटी बहिन को उन्होंने कुछ भी नहीं दिया। माँ की मौत पर इन्दु आयी नहीं थी सो दोनों बहुओं ने सास का सारा गहना कपड़ा आपस में बंदर बाँट कर लिया। कायदे से उसमें इन्दु का हक बनता था।¹⁶ आज की सामाजिकता में तार-तार होते रिश्ते, संबंध और शर्मसार होती दुनिया वालों की मर्यादाओं पर लेखिका ने बहुत व्यवहारिक एवं सैद्धांतिक व्यंग्य बाण अपने शब्दों में अभिव्यक्त किया है, “वह कहता है यह न सतयुग है, न कलयुग, यह तो छद्मयुग है। इसमें सावधान रहना ही सबसे अच्छा है। जो हो उससे उलट प्रचारित करो तभी सुरक्षा है। वह रैक में सबके सामने किताब रखता ‘द गॉड डैट फैल्ड’।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जीवन एक व्यापक एवं सार्थक मूल्यवान अभिप्राय का नाम है जिसमें अनेकानेक जीवन संबंधी आयामों का समावेश है जिनके बिना ज़िन्दगी का न तो कोई महत्त्व है और न ही कोई मौलिकता। उसकी समय के साथ दौड़ सदैव से जारी रही है और अनंत काल तक जारी रहेगी। इस ज़िन्दगी रूपी दौड़ में समय की वे सच्चाईयाँ हैं जिन्हें लोक व्यवहार एवं कवित चेतना के साथ उभरते हुए देखा जा सकता है और जिन्हें कदापि झुठलाया नहीं जा सकता है। ये सभी सामाजिक दायरे की सच्चाइयाँ हैं जिन्हें विसंगति, विडम्बना, शोषण, स्वार्थ, छल-कपट, अनाचार, पाखण्ड, कुंठा, संत्रास, भय आदि युग प्रसंगों के रूप में समावेशित किया गया है। जिनसे मानवीय मूल्यों की स्थापना नियम, उपनियम, धर्म एवं संस्कृति की

रूपरेखा पर तय होती है। इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के उपन्यासकारों ने समाज में स्थापित मूल्यों को गिरते हुए अनुभव ही नहीं किया अपितु उनसे रूबरू भी हुए हैं। यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि यद्यपि समाज के विकास की गति एवं दर में सभी क्षेत्रों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है, परन्तु सामाजिक मूल्यों का उसी रफ्तार से विघटन होता जा रहा है जो मनुष्य के भविष्य के लिए अच्छे संकेत नहीं है।

सन्दर्भ-

1. प्रदीप सौरभ, मुन्नी मोबाइल, पृ. 30
2. वही, पृ. 31
3. मेहरुन्निसा परवेज, अकेला पलाश, पृ. 30
4. प्रताप सहगल, प्रियकान्त, पृ. 74
5. अकेला पलाश, पृ. 117
6. अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, पृ. 185
7. वही, पृ. 185
8. दूधनाथ सिंह, आखिरी कलाम, पृ. 81
9. वही, पृ. 81
10. वही
11. अकेला पलाश, पृ. 223
12. एक ब्रेक के बाद, पृ. 110
13. महीप सिंह, बीच की धूप, पृ. 215
14. वही
15. मनीषा कुलश्रेष्ठ, शिगाफ, पृ. 86-87
16. ममता कालिया, दुःखम सुखम, पृ. 131
17. वही, पृ. 247

**473, Second Floor, Omaxe Happy Homes,
Omaxe City, Sector -26, Rohtak. Pin - 124001**

समकालीन कविता और चन्द्रकान्त देवताले का काव्य (खुद पर निगरानी का वक्त के विशेष संदर्भ में)

राहुल शर्मा

समकालीनता, समकालीन कविता और कवि के संबंध को दर्शाना एक विस्तृत चर्चा की माँग करता है। जहाँ तक समकालीनता का प्रश्न है तो इसे कुछ इस तरह से परिभाषित किया जा सकता है- “समकालीनता एक कटा हुआ टुकड़ा नहीं है, वह भी परम्परा यानी इतिहासबोध का अंग होता है और जब हम अनुभव की प्रमाणिकता की बात उठाते हुए समकालीनता को उसकी एक कसौटी मानते हैं तब यह निहित होता है कि परम्परा की प्रत्यक्ष या परोक्ष अविच्छिन्नता को भी कहीं स्वीकार करते हैं।”

देवीशंकर के इस विचार के संदर्भ में यह कहना आवश्यक हो जाता है कि हिन्दी साहित्य में एक ऐसा भी दौर आया था जब समकालीनता को ‘तत्कालीन’ परिस्थितियों के संदर्भ में देखा गया था जो कि समकालीनता की कसौटी के अर्थ को अनर्थ करने की साजिश-सी जान पड़ती है।

समकालीनता के संदर्भ में यदि रघुवीर सहाय जी के कथन पर विचार किया जाये तो हम पायेंगे कि इन्होंने समकालीनता को एक व्यापक संदर्भ में परिभाषित किया है- “मेरी दृष्टि में समकालीनता मानव भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है।”¹

रघुवीर सहाय जी का यह कथन ‘समकालीनता’ पद में निहित गंभीर अर्थ को उजागर करने में पूरी तरह सक्षम नज़र आता है। ‘समकालीनता’ मनुष्य के भविष्य को निर्धारित करने का मापदंड भी है जो युगीन परिस्थितियों के परिणाम पर प्रकाश डालती है।

थोड़े और विस्तार से चर्चा की जाये तो हम पाते हैं कि, समकालीनता, एक समय खंड में साथ-साथ जीना नहीं बल्कि अपने समय और समस्याओं से लड़ना है और उनका सामना करना है। रोहिताश्व के शब्दों में- “समस्याओं और चुनौतियों में भी केन्द्रीय महत्त्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।”²

रोहिताश्व की इन पंक्तियों की व्याख्या की जाये तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि ‘समकालीनता’ एक ऐसी

अवधारणा है जो अपने समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलती है और अपने समय की विसंगतियों और विडम्बनाओं से टकराती है।

समकालीनता पर विस्तृत चर्चा के बाद जब हम कविता के क्षेत्र अर्थात् समकालीन कविता की ओर अपना ध्यान ले जाते हैं तो पाते हैं कि ‘समकालीनता’ और ‘समकालीन कविता’ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिस प्रकार समकालीनता का सम्बन्ध जीवन की विविधता और सकारात्मकता से है उसी प्रकार समकालीन कविता इस विविधता और सकारात्मकता को व्यक्त करने की एक विधा।

जब समकालीन कविता पर बात आती है तब सबसे पहला प्रश्न जिससे हमारा सामना होता है वह यह कि समकालीन कविता का आरंभ कब से हुआ? तो इस प्रश्न को लेकर अनेक विवशताएँ हैं। जब हम इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना आरंभ करते हैं तो हम यह पाते हैं कि समकालीन कविता की पुष्टभूमि 1970 के बाद का भारतीय परिवेश है। 1970 का दौर वह दौर है जब भारतीय इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित होती हैं- पहला बांग्लादेश का निर्माण और दूसरा आपातकाल। इन दो घटनाओं ने समकालीन कविता की भूमि को उर्वर बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। बांग्लादेश के निर्माण ने भारत को आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं से घेर दिया। अर्थ और राजनीति ने जहाँ गरीबी, मूल्यवृद्धि और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देकर साधारण जनता को त्रस्त किया वहीं दूसरी ओर समाज का बुद्धिजीवी वर्ग भी इससे काफी आहत हुआ। इसके बाद जिस परिस्थिति ने जन्म लिया वह आज भी मुँह बाये खड़ी है। कहते हैं न परिस्थितियाँ वह प्रयोगशाला है जहाँ सामाजिक मिश्रणों की प्रतिक्रिया एक नयी समस्या को जन्म देती है चाहे आपातकाल हो, दंगे हो, भारतीय अर्थव्यवस्था में बढ़ रहा विदेशी कम्पनियों का हस्तक्षेप हो, राजनैतिक पार्टियों का विखंडन हो या राजनीति और अपराध का गठबंधन इन सभी समस्याओं ने समकालीन

कविता की भूमि को उर्वर बनाने में खाद का काम किया केवल यही नहीं समकालीन कविता के केन्द्र में निम्न मध्यवर्ग और सर्वहारा भी है जो इसके बदलते मूल्यबोध को दर्शाते नज़र आते हैं।

समकालीन कविता पर जब बात होती है तब मानस पटल पर कतिपय कवि स्वतः स्फूर्त होने लगते हैं- रघुवीर सहाय, गगन गिल, केदारनाथ सिंह, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, वीरेन डंगवाल, उदय प्रकाश आदि जिनकी कविताओं में समकालीन समस्याओं के समाधान की छटपटाहट देखने को मिलती है। ठीक ऐसी ही छटपटाहट को एक और कवि अपनी कविताओं में स्थान देता नज़र आता है और वह है- चन्द्रकांत देवताले। देवताले जी हिन्दी कविता की साठोत्तरी पीढ़ी के सशक्त हस्ताक्षर हैं। हड्डियों में छिपा ज्वर, दीवारों पर खून से, पत्थर की बेंच, इतनी पत्थर रोशनी इत्यादि कव्य संग्रहों के माध्यम से इन्होंने समकालीन कविता की भूमि को उर्वर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

देवताले जी न केवल 'समकालीन कविता' के वास्तविक अर्थ को अभिव्यंजित करते हैं बल्कि प्रतिरोध की सैद्धांतिकी को भी गढ़ते हैं। हाल ही में प्रकाशित उनके नवीन काव्य-संग्रह 'खुद पर निगरानी का वक्त' में प्रतिरोध की इस सैद्धांतिकी को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस संग्रह की एक कविता है 'गुज़र गया दो हज़ार दस' जिसमें कवि के व्यवस्था के प्रति आक्रोश को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह कविता जहाँ एक ओर राजनीति के शिकार लोगों की पक्षधर के रूप में खड़ी नज़र आती है वहीं दूसरी ओर यह व्यवस्था तंत्र के पक्ष में खड़े समाज के चार खंभों में से एक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की भी जम कर खबर लेती है- सिर मुंडाकर गुजर गया दो हजार दस/नवम्बर-दिसम्बर तो व्यवस्था ही की तरह/ लाशें-ताबूत ढोते हांफते रहे/मरे भूख से, बे-मौत भी फिर हत्याएं हुई/गिन पाना असंभव/वह भी दिपदिपाते चारों खंभों की छाया में।⁸

कविता ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है कवि का आक्रोश भी उतना ही पैना होता जाता है और वह पूँजीवाद तथा राजनीति के गठजोड़ को कुछ इस तरह बयाँ करता है- इकतीस दिसम्बर रात नौ बजे से ही/भय्य आयोजन ताम-झाम/दो ग्यारह की आगवानी का/आत्महत्याएँ, शोक-सूतक सबको झटक/गलाफाड़, गाते-बजाते झूम रहे थे/अंग्रेज़ी-ढोल-ढमाकों की गगनभेदी आवाज़ों के साथ।⁴

फिर कविता में कवि स्वातंत्र्योत्तर भारत के सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व भारतेंदु की पंक्तियों के माध्यम से करता हुआ

कहता है- दृश्य में कहीं नहीं/मुल्क के असली अपने करोड़ों/जिनके पेट-पीठ मिलकर हैं एक/जो जहाँ-तहाँ गाँवों, खेतों, उजाड़ मैदानों में/उकड़ू बैठे सिर थामे/मातम मना रहे बरबादी का/ऐसे ही भीषण का थोड़ा कुछ देख/सौ बरस पहले कहा था/माहताबे हिंद ने/आओ सब मिलकर रोओ भाई/यह भारत दुर्दशा न देखी जाई।⁵

इसी संग्रह कि एक अन्य कविता है 'सात नवम्बर 2011' यह एक ऐसी कविता है जिसमें कवि अपने जन्म तारीख के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों और देश में व्याप्त कुव्यवस्था पर एक पैनी निगाह फेरता है ठीक निलय उपाध्याय की कविता के 'जेबकतरे' की तरह-पानी से भरे बर्तन में कमल के पत्ते पर इस तरह मारना ब्लेड कि पानी की बूँद ब्लेड पर न पड़े। भारतीय राजनीति के मुखौटे के पीछे छिपे चेहरे का पर्दाफाश करते हुए लिखते हैं- असंभव है अब मेरे लिये शामिल होना/सफेद और काले-कौवों की/देशभक्ति और तरक्की की कांव-कांव में/मेरे प्यारे देश कैसे कर रहे बर्दाश्त।⁶

'काले और सफेद' तथा 'तरक्की के काँव-काँव' के मध्य कवि की यह दुत्कार उसके बाहरी और भीतरी सोच को उजागर तो करती ही है साथ ही साथ 'जन-गण-मन' पर चारों ओर से किये जाने वाले सांस्कृतिक हमलों पर करारा प्रहार करती है- धरती-परिंदों-दरख्तों-नदियों ही नहीं/समूचे जन मन पर/ताकतवर दैत्यों का चहुँतरफा हमला/भूचाल और ज्वालामुखी के दहाने पर खड़े हम/हमारे सामने सांस्कृतिक विस्फोट का महादृश्य।⁷

पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, उदारवाद जैसे ताकतवर दैत्यों की खबर लेता हुआ कवि अपनी जड़ों से कट रहे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ कार्पोरेट पूँजी रूपी हरकारे का पर्दाफाश करता हुआ 'इंतजार करो, तुम कतार में हो' शीर्षक कविता में कहता है- तुम्हारे तो कई-कई दस्ते हैं भैया/एक वो जमीन जल जंगल को/लूटने वाला हरकारा कारपोरेट पूँजी का।⁸

फिर कवि कविता में कार्पोरेट कंपनियों के बढ़ते प्रभाव और किसानों पर होने वाले उसके असर को चित्रित करता हुआ कवि कहता है- जिसके झटकों से अन्नदाता हमारे/कर रहे हैं आत्महत्या।⁹

आज उदारवाद और पूँजीवाद की बाढ़ में जब प्रतिरोध के सारे स्वर बहते नज़र आ रहे हैं और कलमनवीसों का एक कुनबा हथियार डालता दिखाई पड़ता है जो अपनी भोथरी कलम से इस बढ़ते उदारवाद और पूँजीवाद का गुणगान कर रहा है वहीं कवि ऐसे लोगों की खबर लेता हुआ कह पड़ता है-भूखी मौत भैया/ऐसी कैसी भूख, कैसी भस्मी व्यथा/दुनिया

की नामी हस्तियों से लेकर/देश और शहर के दिग्गज कवियों, लेखकों/सुर-आवाज-रंग और थियेटर के अदाकारों पर/अंधी हो विफर गयी।¹⁰

इस भस्मी व्यथा की पहचान करता हुआ कवि जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है उसे हर तरफ एक ही शोर सुनाई पड़ता है-पूँजी और बाज़ार का शोर, जिसने दुनिया को बहरा बना दिया है। कवि इस यथार्थ से मुठभेड़ करता हुआ साहित्य में भी इस शोर को सुन रहा है और इस पूँजी और बाज़ार के साहित्य में सेंध को 'इतने दरख्त और पत्ता तक नहीं खड़कता' शीर्षक कविता में चित्रित करता हुआ कहता है- और आज के हालात देख/मुझे तो यही लगता/असंभव है कविता से भी /सच उगलवा लेना।¹¹

फिर कविता को उस दरख्त में तब्दील होते हुए देखता है जिसका पत्ता तक नहीं खड़कता अर्थात् अन्याय आँखों के समक्ष घटित हो रहा है पर उसके विरुद्ध कोई आवाज़ नहीं उठ रही है और जिनका एक मात्र उद्देश्य सिर्फ और सिर्फ प्रसिद्धि प्राप्त करना है। कवि ऐसे दरख्तों की जमात में शामिल नहीं होना चाहता जिनका उद्देश्य गरीबी भुना पैसे कमाना है- तो क्या कवि भी/शामिल हो जाये उनकी जमात में/जिनके लिये तैयार रहता रोता हुआ आदमी/फिर आंसू पोछते उसके/खिंचवाते अपने फोटू छपवाने के लिये/दूसरे दिन अखबार में।¹²

संग्रह की कविताओं में जहाँ एक ओर देवताले जी कार्पोरेट दुनिया, पूँजीवाद, उदारवाद के बढ़ते प्रभावों को उजागर करते हैं तो वहीं दूसरी ओर राजनैतिक गतिविधियों और उसके कुचक्रों का भी पर्दाफाश करते हैं। 'शांति और व्यवस्था' के नाम पर किये जाने वाले नेताओं के प्रयासों को उजागर करते हुए और इन शब्दों (शांति और व्यवस्था) के भीतर छिपी मार्मिकता की आड़ में की जाने वाली हत्याओं का चित्रण 'शर्मिदा हैं हम तो आप अपनी जाने' शीर्षक कविता में करते हुए कहते हैं- आप जानते हैं अच्छे से/कि बेहद संवेदनशील शब्द हैं 'शांति और व्यवस्था'/और इनको कायम रखने के नाम पर ही/हो रहीं हत्याएँ और अग्निकांड।¹³

संग्रह की कविताओं को पढ़ते हुए जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जाते हैं हमारे समक्ष कवि की सोच की तह एक-एक कर खुलती जाती है और उनके मस्तिष्क में चल रहे वैचारिक द्वन्द्व से रूबरू होते चलते हैं। संसार में व्याप्त दुरावस्था और बदनसीबी के खाके को अपनी कविताओं में प्रस्तुत करते हुए देवताले लगातार यह भी पूछते चलते हैं कि आखिर इस स्थिति का जिम्मेवार कौन है और इस परदे के पीछे कौन-सी ताकतें छिपी हुई हैं और इन सवालों का जवाब ढूँढ़ने के लिये

वे श्रीमंतों, महामहिमों, महाप्रभुओं के पास जाता है। कवि इन वर्चस्ववादी ताकतों के साथ पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते प्रभाव को 'झाड़ू के कारण संक्षिप्त चिंतन' शीर्षक कविता में रेखांकित करता हुआ कहता है- पर श्रीमान/झाड़ू का पैदाइशी रिश्ता, शगुनों से कहीं अधिक/कचरे-गंदगी-धूल/और मकड़ी के ही नहीं/दिमागी जालों से रहता है/...../इस आयातित कचरे की ओर भी/आकर्षित करना चाहता हूँ/जो घरों मस्तिष्कों से लेकर/महाघाट तक में बिछा रहता है।/जिसे कूड़ा-करकट कहने में भी/शर्म आयेगी हमें/पाँच-दस रुपये की झाड़ू से /खदेड़ने की हिमाकत की जा सकती है।¹⁴

'झाड़ू' प्रतीक के माध्यम से कवि बाज़ारवाद के बढ़ते दुष्प्रभावों और पाश्चात्य संस्कृति जिसे 'पब संस्कृति' भी कहा जा रहा है कि गंदगी को साफ करने के लिये उद्धृत दिखता है पर एक संशय की स्थिति भी उसके कथन में स्पष्ट नज़र आती है- क्या इस कचरे को/पाँच-दस रुपये की झाड़ू से /खदेड़ने की हिमाकत की जा सकती है।¹⁵

कवि का यह संशय कोई साधारण संशय नहीं है क्योंकि इस संस्कृति ने दुनिया को मुट्ठी में कर रखा है।

'खुद पर निगरानी का वक्त' शीर्षक कविता जो संग्रह का शीर्षक भी है एक ऐसी कविता है जो अपने समय से संतुष्ट और हताश कविता की स्थिति को दर्शाती है। इस कविता के माध्यम से कवि मौजूदा दौर को 'खुद पर निगरानी रखने का दौर' मानता है और इस निगरानी के दौर से आगाह भी करता चलता है- कह रही बार-बार निगरानी रखो/जैसी दुश्मन पर वैसी ही खुद पर/चुटकी भर अमरता खातिर/ विश्वासघात न हो जाये/अपनी भाषा, धरती और लोगों के साथ।¹⁶

'खुद पर निगरानी का वक्त' संग्रह की एक ऐसी कविता है जिसमें कवि दुश्मन की पहचान और उसके प्रतिरोध के साथ-साथ आत्मनिरीक्षण भी करता नज़र आता है। इस कविता में जहाँ एक ओर कविता से उसके चीखने और छातीकुट्टा करने की उम्मीद है तो दूसरी ओर उन लोगों की असलियत को उजागर भी करना है जो 'पूँजी मंडी में फोटू खिंचवाते' नज़र आते हैं और 'जनता रथ को छोड़ हवाई जहाजों का सफर करते है- पूँजी मंडी में कैसे/मुस्काते फोटू खिंचवाते/नष्ट हो रहा विवेक/बिक रहा कौड़ी के भाव ईमान /और करोड़ों ने सार्वजनिक रूप से/जिन्हें बनाया था अपने /सुख-चौन के लिये सारथि/जनता रथ छोड़ वो सब/हवाई जहाजों से कुनबे समेत/सौदा करने जा रहे विदेश।¹⁷

शेष भाग 25 पर

विवेकीराय के ललित निबंधों में लोक संस्कृति का चित्रण

ज्योति

विवेकीराय लोक संस्कृति से जुड़े और लोक संस्कृति के प्रति समर्पित साहित्यकार के रूप में माने जाते हैं। लेखक ने अपने निबंधों में ग्रामीण परिवेश और विभिन्न पक्षों का वास्तविक चित्रण किया है। लोक संस्कृति के लगभग सभी पक्ष इनके निबंध साहित्य में उभरे हुए परिलक्षित होते हैं। लोक संस्कृति की सभी समस्याओं को अत्यंत निष्ठा के साथ उभारने का प्रयास किया गया है। लेखक ने लोक संस्कृति के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक स्तर में बदलाव लाने के साथ-साथ सामाजिक विसंगतियों की ओर भी संकेत किया है। सभी प्रकार की विसंगतियों के निराकरण के उपायों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लोक संस्कृति की सभी परंपराओं, रहन-सहन के स्तर, ग्रामीण धार्मिक अंध विश्वास, राजनीतिक दांव पेंच और ग्रामीण युवा पीढ़ी का शहरो की ओर पलायन एवं युवा पीढ़ी की आकांक्षाओं की आलोचनात्मक व्याख्या की गई है। लेखक ने भावुक होकर प्रकृति का रमणीय चित्रांकन किया है।

निबंधकार विवेकीराय के 'ग्यारह निबंध-संग्रह' प्रकाशित हुए हैं। प्रथम निबंध संग्रह 'किसान का देश' है। इसके पश्चात् 'गाँवों की दुनिया', 'नया गाँवनामा' जैसे संग्रहों में ग्रामीण परिवेश अंकित हुआ है।¹ विवेकीराय के संपूर्ण साहित्य में गाँव की माटी की महक है, क्योंकि उनके व्यक्तित्व का निर्माण ग्रामांचल में ही हुआ है। डॉ. सत्यकाम उनके देहातीपन से प्रभावित होकर लिखते हैं- "विवेकीराय को मैं शुरू से पढ़ता रहा हूँ उनकी कृतियों से प्रभावित होता रहा हूँ। उनकी रचनाओं का देहातीपन मुझे लुभाता रहा है। विवेकीराय स्वयं देहाती है। उनके व्यक्तित्व में सरलता है, देहातीपन है।"² राय ने अपनी अकुण्ठ साधना के मर्म और अपने इस स्वभाव-संस्कार की ओर अपने एक साक्षात्कार में संकेत किया है- "मैं गाँव का आदमी हूँ धीमे-धीमे चलता हूँ। उछल कर पहुँचना मेरी फितरत में नहीं है।"³ रामचंद्र तिवारी डॉ. विवेकीराय के ग्रामनिष्ठ व्यक्तित्व के संबंध में लिखते हैं-

"विवेकीराय का सर्जनशील व्यक्तित्व ठीक उसी तरह अंकुरित विकसित और पुष्ट हुआ है जिस तरह धरती के भीतर से फूटकर बीजांकुर उभरता, बढ़ता और विकसित होता है। उनमें अपरिमेय जिजीविषा है। वे सच्चे अर्थों में भूमिपुत्र हैं। धरती के प्रति उनका समर्पण ही उनकी सर्जन-शीलता का केन्द्र बिन्दु है।"⁴

डॉ. विवेकीराय का व्यक्तित्व ग्रामीण अंचल में संस्कारित हुआ। वे गाज़ीपुर में व्याख्याता थे और अपने गाँव की खेती भी सम्भालते थे और साहित्य-सृजन भी करते थे। डॉ. रामदरश मिश्र विवेकी राय को देहाती धरती की ऊष्मा से बने एक सीधे सच्चे कर्मठ व्यक्ति मानते हुए उनके व्यक्तित्व के संबंध में लिखते हैं- "गाँव की बनती बिगड़ती जिंदगी के बीच जीते हुए और उसे पहचानते हुए वे चलते रहे। इसीलिए गाँव के जीवन से संबंधित उनके अनुभवों का खजाना रुका नहीं, नित भरता ही गया। लगता है उनके अनुभवों में बदलता हुआ अंचल अपने बहुआयामी यथार्थ के साथ खलबला रहा है और उनके उपन्यासों, निबंधों और कहानियों के माध्यम से फूट पड़ने को आकुल-व्याकुल है।"⁵

डॉ. विवेकीराय का पहला निबंध-संग्रह 'किसान का देश' सन् 1956 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में निबंधकार ने गंभीर विवेचनात्मक शैली में गाँवों का सरस, सूक्ष्मसूक्ष्म चित्रण किया है, जो पूर्णतः स्वाभाविक है। इसमें सात निबंध संग्रहीत हैं जिनके शीर्षक गाँवों के प्रसिद्ध मुहावरों, कहावतों तथा लोकोक्तियों के आधार पर रखे गये हैं, जैसे-डासत ही गई बीति निसा, रस्सी जल गई मगर ऐठन नहीं गई, उजगर करे न चाकरी, पुंछी कटे न काम, इस संग्रह की भूमिका में डॉ. विवेकी राय ने लिखा है- "भारतीय ग्रामीण जीवन में मुझे एक कविता की रमणीयता, नाटक की गतिशीलता, उपन्यास की मनोरंजकता, कहानी की संवेदना और निबंधों की संभिरता मिली है।"⁶ डॉ. राय ने गाँवों के अनाथ, निराश्रित, गरीब, मजदूर, हरिजन, अछूत, डोम आदि उपेक्षित पात्रों के माध्यम

से यथार्थ का चित्रण किया। डॉ. विवेकीराय स्वयं गाँव से सम्पृक्त है। इसलिए गाँव के चित्रण में जीवन्तता, दृष्टिगत होती है। स्वयं लेखक के शब्दों में- “किसानों की इस दुनिया में झॉक कर देखते है तो लगता है कि कुछ अंश में इसकी झूठी प्रशंसा करके इसकी वास्तविकता को ढ़कने का प्रयास सदा से होता चला आया है। मानव के विकास की बात तो दूर है, मानव मानव के स्तर पर है ही नहीं। इसका जीवन जंगली भी नहीं है। एक विचित्र छालमेल है।”⁷⁷ प्रस्तुत निबंधों की समीक्षा करते हुए जगदीश नारायण राय लिखते हैं- “पुस्तक ग्रामीण जीवन की एक कोश होने के साथ ग्राम-गाइड जैसी है। एकदम ठेठ गाँव का घरेलू चित्रण और उसका सांगोपांग विवेचन इस प्रकार एकत्र देखकर बरबस पुस्तक की प्रशंसा करनी पड़ती है।”⁷⁸

निबंध-संग्रह ‘गाँवों की दुनिया’ सन् 1957 में प्रकाशित हुआ। इस निबंध संग्रह में डॉ. विवेकी राय ने गंभीर विवेच्य शैली से गाँवों का सरस, सूक्ष्मसूक्ष्म चित्रण किया है। “डॉ. विवेकीराय गाँवों की विकास में आए बाँधाओं का जिक्र तो करते है, लेकिन अंत में वे गाँवों के प्रति आशावादी भी है। वे मानते है कि-सूर, तुलसी, रवीन्द्र और मैथिलीशरण के गाँव फिर अपनी विगत मिठास लिये मधुर मोहक हो उठेंगे। धीरे-धीरे किसानों के भीतर आत्मविश्वास जाग रहा है। जो उसकी उदासी को मिटा देगा।”⁷⁹

‘त्रिधारा’ निबंध-संग्रह सन् 1958 में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत संग्रह में ‘भारतमाता ग्रामवासिनी’, ‘बात के बासन में तुलसी दल’, ‘सर हथेली पे लेकर के आगे बढ़ो’ क्रमशः एक खोजपूर्ण, एक विवरणात्मक और एक भावात्मक वृहत् निबंध है। उपर्युक्त तीनों निबंध संग्रहों में गाँवों के वास्तविक जीवन का लेखा-जोखा है।

‘फिर बैतलवा डाल पर’ प्रस्तुत कृति का नामकरण राजा विक्रमादित्य और बैताल की कथा के आधार पर रखा गया है। इसमें ग्रामीण जीवन पर विचार किया गया है। डॉ. जितेंद्रनाथ पाठक ने भूमिका में लिखा है- “इन कथाओं में ग्राम जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिपात है।”⁸⁰ तो वेदप्रकाश अभिताभ लिखते हैं-“फिर बैतलवा डाल पर’ में संग्रहीत कई रचनाएँ है जो निबंध विधा में नहीं गिनी जा सकती। लेकिन ‘सोने की लूट’, ‘गर्दन का दर्द’, ‘बम का सहारा’, ‘रात को बात’ आदि रचनाएँ निश्चय ही ललित निबंध है और इनमें ग्राम-जीवन के विविध संदर्भ पर गंभीर विचार विमर्श शुरू हुआ।”⁸¹ संक्षेप में, ‘फिर बैतलवा डाल पर’ निबंध-संग्रह के निबंधों में ग्रामीण मानसिकता की व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्ति

हुई है।

‘मनबोध मास्टट की डायरी’ में 23 लघु निबंध संग्रहीत है, जिनमें डॉ. विवेकी राय के अध्यापक जीवन का अनुभव है। ‘नया गाँवनामा’ (सन् 1984) में इकतीस निबंध संग्रहीत है। सम्पत्ति गाँवों की स्थिति में बदलाव आया है। यह बदलाव ही ‘नया गाँवनामा’ है। ‘धोती’ नामक निबंध में निबंधकार लिखते है कि धोती-कुर्ता हमारे यहाँ गाँव की पहचान है। यह किसानों का अर्थात् अन्नदाताओं का परिधान है, परंतु अब गाँव के युवक धोती-कुर्ता नहीं पहनते। पैंट और बुशर्ट परिधान का गाँवों में चलन हो गया है। ‘छोटे के दिन छोटे’ में आम आदमी की पीड़ा व्यक्त हुई है शासकीय अधिकारी एवं नेतागण न तो दूर-दराज के छोटे गाँवों में जाते है और न ही आम आदमी की चिंता करते है- “वोट वाले भी छोटे गाँव में नहीं जाते। उन्हें गण की नहीं, गणपतियों की तलाश है। वे बड़ों के पास जायेंगे। उनके वोट से जीतकर उनका काम करेंगे। उन्हें नलकूप, नहर और सड़क देंगे। उनके लड़कों को नौकरी देंगे। छोटे गाँव के छोटे लोग सुर्ती खाकर पिच्च-पिच्च थूका करें।”⁸² ‘अर्द्धांग-चिंता’ निबंध में भारतीय ग्राम नारियों की दुर्दशा का चित्रण है और दुर्दशा का एक कारण ग्रामीण समाज में व्याप्त निरक्षरता है। ‘कठिन पकड़ जनसाधारण की’ में गाँव के बदलाव का चित्र खींचा है। ग्राम-संस्कृति के केंद्र में रामायण थी। अब रामायण पठन, पर्व-उत्सव आदि भी औपचारिक रूप में मनाये जाते हैं- “बस लोग जिंदा है महँगाई की मार खाकर, बेकारी का भार ठोकर, गरीबी की लूगरी गांध कर और रोजी-रोटी में खपकर जीवन का वह सांस्कृतिक पक्ष जिसमें समय-समय पर आन्दोल्लास की अभिव्यक्ति होती है, शून्य हो गया है, खो गया है।”⁸³ स्पष्ट है कि ‘नया गाँवनामा’ के निबंध ग्राम में हो रहे बाहरी परिवर्तन के साथ ग्रामीणों की मानसिकता में हो रहे बदलाव की ओर संकेत करते है।

‘आम रास्ता नहीं है’ (सन् 1988) निबंध-संग्रह में कुल चौवालीस निबंध हैं। इस संग्रह के निबंध भी ग्रामीण परिवेश, ग्रामीण समस्याओं, लोक-व्यवहार, लोक संस्कृति से संबंधित है। ‘मेरा गाँव’ निबंध गाँवों के विकास के अभाव अथवा स्वतंत्रता पश्चात् की मोहभंग की स्थिति का लेखा-जोखा है। ‘गाँव का सुख गाँव का दुख’ में गाँवों की विविध समस्याओं का लेखा-जोखा है। कभी वृक्ष हमारे लिए देवता थे, परंतु उन्हें आर्थिक लाभ प्राप्त करने हेतु तोड़ा काटा जा रहा है। गाँव की एक नहीं अनेक समस्याएँ हैं। अस्वच्छता गाँव की एक और भयंकर समस्या है। चारों ओर गंदगी का साम्राज्य है। ‘बिसरो

गयी सब बात पुरानी' में गाँवों के पुरातन वातावरण की स्मृतियाँ है। गाँवों की अपनी पहचान चली गई है। 'देखते-देखते गाँव से पोथी रामायण गयी, गाना-बजाना गया, कथा, कीर्तन की बिदाई हुई, गीत और मंगल गीत गये, अखाड़े और पहलवान गये। अत्याचार और अन्याय के खिलाफ खड़ा होने वाला कोई नहीं रहा। देखते-देखते गाँव उजाड़ हो गये।'¹⁴ 'आम रास्ता नहीं है' के माध्यम से निबंधकार ने सार्वजनिक प्रश्नों को उपस्थित किया है, जिसके केंद्र में गाँव है। डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने लिखा है- "आम रास्ता नहीं है" के निबंधों को पढ़ना न केवल विचारों और अनुभवों के समृद्ध संसार से गुज़रना है अपितु आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी पिछड़े ग्रामांचल की मूल्यगत गिरावट और सांस्कृतिक अवमूल्यन से सीधा साक्षात् करना भी है।'¹⁵

'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ' के निबंधों का केंद्र गाँव है परंतु इसमें अंतरनिहित सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक समस्याएँ गाँव की न रहकर पूरे देश की बन जाती है। जैसा कि उन्होंने लिखा है- "मेरा साहित्य-सृजन का प्रत्येक क्षण शांति और अवकाश का नहीं, छटपटाहट का क्षण होता है। यह क्षण अत्यधिक सघन हो जाता है तो मैं व्यंग्य लिखता हूँ। इस विद्या को अपनाते ही जैसे मैं युगीन विसंगतियों के ठीक आमने-सामने हो जाता हूँ। ऐसे मौकों पर शायद अत्याधिक कटु भी होता है।'¹⁶ 'यह किसकी लीला है' में गाँव में बैलगाड़ी की उपयोगिता बताई गई है। 'गुरु-गृह गायउ पठन रघुराई' इस संग्रह में 10 निबंध संग्रहीत है। इसमें लेखक ने दुख व्यक्त किया है कि यद्यपि यह युग शिक्षा का है, फिर भी गाँवों में शिक्षा का प्रसार जिस रूप में होना चाहिए, वैसा हो नहीं पा रहा है। वहाँ के बालकों को उनकी परिस्थितियाँ पढ़ने नहीं देती। संपूर्ण निबंध में ग्रामीण क्षेत्र में हो रही शिक्षा की उपेक्षा पर चिंता व्यक्त हुई है। 'जगत तपोवन सो कियो' में कुल 28 निबंध हैं। 'जगत तपोवन सो कियो' निबंध में ग्रीष्म में गाँव की भयंकर स्थिति चित्रित है। ग्रीष्मता के कारण वटवृक्ष की शीतल छाँव मनभावन लगती है। दोपहर होते ही सारा गांव बगीचे में, पेड़ों के नीचे शरण खोजता है। कृषक वर्ग काम नहीं कर पाता। 'अपनी पहचान खो गया है गाँव' में जैसा नाम से स्पष्ट गाँव की पहचान खो जाने का दर्द है। उनका प्रथम निबंध-संग्रह 'किसानों का देश' है। वस्तुतः वे ग्राम केंद्रित लेखक हैं। अपने कृषक, शिक्षक व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्ध विवेकी राय साहित्य के प्रति भी प्रतिबद्ध रहे हैं। 'गाँवों की दुनिया', 'त्रिधारा', 'नया गाँवनामा' में संग्रहीत निबंध गाँव के जीवन से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करवाते हैं। अपनी

साहित्यिक कृतियों की प्रेरणा एवं पृष्ठभूमि के बारे में उन्होंने 'मेरे-लेखक' निबंध में लिखा है- "समग्र रूप से मेरे लेखन की पृष्ठभूमि ग्राम-जीवन है। वास्तव में वही मेरा जीवन भी है। लगभग आधी उम्र दूर देहात के एक गाँव में गुज़रने के बाद एक अत्यंत पिछड़े और छोटे शहर में आया भी तो मैं शहरी नहीं बन पाया।'¹⁷

प्रेमचंद, वृंदावनलाल वर्मा, फणीश्वरनाथ 'रेणु', राही मासूज रज़ा, रामदरश मिश्र, हिमांशु जोशी, शिवप्रसाद सिंह, यादवेंद्र शर्मा आदि प्रतिभाओं का सृजन-स्त्रोत ग्राम्य-जीवन रहा है, उसी ग्राम-प्रतिबद्धता के प्रति डॉ. विवेकी राय की आस्था रही है। उन्होंने ग्राम परिवेश पर पाँच हजार से अधिक पृष्ठ लिखें जो साहित्य में एक प्रतिमान ही हैं। डॉ. विवेकी राय ने गाँवों के सुख-दुख को स्वयं जिया-भोगा है। गाँव में व्याप्त विकृतियाँ, विसंगतियाँ उनके मन को मथित करती हैं। यही मन की छटपटाहट उनके साहित्य की प्रेरणा है। वे अपने प्रेरणास्त्रोत के संबंध में कहते हैं- "मेरे जीवन और साहित्य सृजन पर सबसे अधिक प्रभाव महात्मा गाँधी का पड़ा है। इसके अतिरिक्त जवाहरलाल, अरविंद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि के साहित्य ने बहुत प्रभावित किया है।'¹⁸ डॉ. विवेकीराय ग्रामीण परिवेश से जुड़े होने के कारण उन्होंने लोकजीवन, लोकसंस्कृति को करीब से देखा है। यद्यपि अनेक निबंधों के कथ्य का प्रमुख केंद्र गाँव है। अतः अनेक स्थलों पर विषयवस्तु की पुनरावृत्ति परिलक्षित हुई है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि हिंदी साहित्य के इतिहास में ग्राम-जीवन का इतना विशद, विश्वस्त, गहन एवं प्रभावशाली विवेचन करने वाला कोई दूसरा निबंधकार नहीं हुआ है। वस्तुतः उनके निबंध ग्रामीण भारत की आत्मा के दर्पण हैं।

डॉ. विवेकीराय के निबंधों में गाँवों से दिल्ली तक की राजनीति का लेखा-जोखा परिलक्षित होता है। ग्रामीण वातावरण को दूषित करने में नेताओं की अहम् भूमिका रही है- "नेता, विधायक, प्रचारक, सांसद, पदयात्री, सेवक, ग्राम-सेवक, विकास अधिकारी और नाना भाँति के सभ्य लोगों का संपर्क बढ़ा। तो गाँव जैसे जंगल हो गया। जंगल के राजनीतिक मंगलों के बीच नेतावतारों की धूम मच गयी।'¹⁹ डॉ. विवेकी राय कृषक परिवार के हैं और वे स्वयं कृषक के रूप में कार्य कर चुके हैं। इसीलिए सोचते हैं कि- "मैं तो मूलतः किसान हूँ परंतु मेरे लड़के खेतों से जुड़ेंगे ऐसा नहीं लग रहा, मेरी ही क्यो, किसान मात्र के शिक्षित युवा-पुत्रों की मानसिकता बहुत उखड़ी-उखड़ी प्रतीत हो रही है। परंतु खेती के जुए में नथने

की बात से उन्हें सख्त परहेज है।”²⁰

संदर्भ-

1. डॉ. सराफ, मनोहर गोविंदा, निबंधकार विवेकीराय, आर्शीवचन
2. डॉ. सत्यकाम, संपादक, माटी की महक, भूमिका
3. डॉ. अनिल कुमार ‘आंजनेय’, संपादक, सृजन यज्ञ जारी है, भूमिका
4. तिवारी, रामचंद्र, प्राक्कथन, जगत तपोवन सो कियो, पृ. 6
5. माटी की महक, पृ. 49
6. राय, विवेकी, किसानों का देश, भूमिका
7. वही, पृ. 71
8. राय, जगदीशनारायण, लोकसेवक, पृ. 3
9. डॉ. भामरे, राजेश, निबंधकार विवेकी राय, पृ. 68
10. राय विवेकी, फिर बैतलवा डाल पर, भूमिका पृ. 11
11. माटी की महक, पृ. 88
12. विवेकी राय, नया गाँवनामा, पृ. 51
13. वही, पृ. 133
14. वही, आम रास्ता नहीं है, पृ. 203
15. अमिताभ, वेदप्रकाश, संपादक, अक्षरबीज की हरियाली, पृ. 113
16. विवेकी राय, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनायें, पृ. 9
17. वही, आम रास्ता नहीं है, पृ. 99
18. डॉ. दीक्षित, मिथिलेश, (सं.) ऋता (पत्रिका), पृ. 53
19. नया गाँवनामा, पृ. 27
20. वही, पृ. 117

शोधार्थी हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द वि.वि. रोहतक

पृ. 46 का शेष भाग.....

नई सदी की स्त्री होने वाले पति में साथी को ढूँढ़ना चाहती है जो उसे समझे। संध्या नवोदिता अपने कविता में कहती है- “बड़ी उम्मीदों से/मैं तुममें तलाशती हूँ एक साथी/और ना उम्मीद हो जाती हूँ, हर बार/एक पुरुष को पाकर।”

अनिता वर्मा ‘दरवाजा’ नामक कविता में लिखती हैं- “मैं एक दरवाजा थी/मुझे जितना पीटा गया/मैं उतनी ही खुलती गयी।”

लेखिका तसलीमा नसरिन की कविता भी स्त्री पीड़ा की करुण कथा ही कहती है- “बाजारी औरत से कहती हूँ जिंदा रहो/एयर-कंडीशन कमरे में जेवरों से लदी फदी/दुखियारी औरत से कहती हूँ जिंदा रहो/और तुम जिंदा रहो, बची रहो।”

नई सदी का युग नेटवर्किंग एवं मीडिया और ज्ञान विज्ञान का युग है। उत्तर आधुनिकता का दौर है। नई सदी की कवयित्रियों द्वारा रचित स्त्री कविता में समाज का यथार्थ उभर आया है। जिसमें उसके दुःख दर्द, आँसू, सपने, आशा, आकाँक्षाएँ, संघर्ष, विद्रोह आदि का रेखांकित तीव्र रूप में हुआ है। महानगरीय जीवन का प्रभाव आदि का भी चित्रण मिलता है। पुरुष की स्वार्थ मानसिकता, स्त्री का संघर्ष विद्रोह है शोषित स्त्री की कराह, स्त्री की जिजीविषा, सकारात्मकता

(सोच) प्रगति पथ पर अग्रसर चेतना संपन्न स्त्री, अन्याय अत्याचार की विरोधिनी, शक्ति संपन्न स्त्री, विद्रोही स्त्री, संघर्षशील स्त्री और नई सदी की कविता, स्त्री की अस्मिता की, पुरुष का पर्दापाश करने वाली कविता है। स्त्री स्वातंत्र की कविता है स्त्री का संघर्ष पुरुष से ही नहीं समाज से भी है।

संदर्भ-

1. समकालीन सहित्य समाचार, सितंबर-2011, पृ. 12,
2. वही, पृ. 13
3. वही, फरवरी-2010 पृ. 25
4. वही, फरवरी-2004 पृ. 11
5. वही, फरवरी-2008 पृ. 30
6. डॉ. ऋचा शर्मा, द्रौपदी क्यों बँटी तुम, पृ. 33
7. रंजना जायसवाल, दस्तावेज 114, पृ. 54
8. हिन्दुस्तानी, अप्रैल-जून, पृ. 117
9. अनामिका, खुरदरी हथेलियाँ

सह प्राध्यापक एवं हिंदी विभागाध्यक्ष, किटेल कला महाविद्यालय, धारवाड-कर्नाटक

लोक मान्यता और श्रीनरेश मेहता का साहित्य

आरती

पर्व और उत्सवों के मूल में मनोरंजन तत्त्व निहित रहता है। व्यक्ति दैनिक जीवन के कृत्यों से ऊबकर मानसिक और शारीरिक तनाव दूर करने के लिए कुछ अवकाश चाहता है। मानव जीवन में कुछ विशिष्ट अवसरों को उत्सव का रूप दिया गया है। मानवजीवन में पर्व-उत्सव मेले ही ऐसे हैं, जो व्यक्ति अपने दुःख-सुख, राग-द्वेष को भुलाकर हास-परिहास में मगन हो जाता है।

जीवन में सुख-दुःख की धूप-छाँव आती जाती रहती है। सुख की घड़ी छाया-सी शीतल एवं सुखद लगती है, लेकिन दुःख की घड़ी तपन और चुभन से व्याप्त होती है। यही कारण है कि दुःख के पल काटे नहीं कटते। इन्हीं पलों को भूलने के लिए एवं जीवन को स्पृहणीय बनाने के लिए विभिन्न पर्वों एवं त्यौहारों का सूत्रपात हुआ। ये जीवन में 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का संदेश लेकर आते हैं। जीवन की प्रक्रिया का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। दुःख की काली परतें सुनहरी किरणों से आवृत्त हो जाती हैं।

श्री नरेश मेहता 'यह पथबन्धु था' में कंस दशमी के उत्सव के बारे में बताते हैं कि यह कंस उत्सव पूरे भारत में दो ही स्थानों पर मनाया जाता है। एक तो मथुरा में और दूसरे श्रीधर के गाँव में और इसका संचालन श्रीधर के पिता श्रीनाथ ठाकुर किया करते हैं। क्योंकि वह आजन्म वैष्णव मंदिर में कीर्तन जी रहे तथा ब्रजभूमि तक राममण्डली ले जाया करते थे। कंस दशमी के उत्सव पर "लोग राक्षस-पुतना आदि बनते हैं। कंस चौरे पर कंस की एक विशाल मूर्ति बनाई जाती है। कृष्ण आते हैं तब कंस दहन होता है। श्रीनाथ ठाकुर सबसे अच्छा राक्षस बना करते थे।"¹

बाला साहब जब अपने हिस्से की संपत्ति से गाँव के लोगों को दावत देते थे उस समय उनकी हवेली को खूब सजाया जाता है। पूरे गाँव में उत्सव जैसा वातावरण होता है। "पूरा कोठी दीपों से सज्जित की गई थी। हाथियों को अल्पित किया गया था। चाँदी के हौदे उस दिन विशेष रूप से चमकाये

गये थे। सांडनियों पर नौबत का प्रबंध किया गया था तथा उनके घुटनों में घुँघरू बाँधे गये थे।"²

कोई भी त्यौहार, उत्सव हो लोग अपने घरों की साफ-सफाई शुरू कर देते हैं। घरों में कली चूना होता है। घर की हर चीज़ को साफ किया जाता है ताकि त्यौहार के दिन घर साफ-सुथरा दिखाई दे। नरेश मेहता ने यह पथबन्धु था में जब दीवाल आने वाली होती है तो श्रीधर के घर वाले घर की साफ-सफाई में लग जाते हैं, "दशहरा बीत चुका था। दीवाली की लिपाई-पुताई की तैयारियाँ हो रही थीं। घर भर का सामान झाड़-पोछ कर साफ किया जा रहा था। इस सब में बच्चों और स्त्रियों का मन बहुत लगता है। नये चूने पोते जाने की गंध आ रही थी। छतों, खिड़कियों, दरवाजों की लकड़ियों पर तेल-पानी किया जा रहा था।"³

शादी के समय होने वाले उत्सवों को नरेश मेहता ने सुशीला की शादी के माध्यम से दर्शाना चाहा है। सुशीला की शादी हो रही है। घर की सफाई-पुताई हो गई है, "फिर वही भीड़, लोग, सगे-सम्बन्धी अर्जित सम्पत्ति की तरह एक-एक करके आने लगे। सुशीला पर हल्दी चढ़ी और औरतें घेर की गाने लगी-

बरेली के बाजार में झुमका गिरा रे! सास मेरी ढूँढ़े, ननद मोरी ढूँढ़े, अरे, अल्मा ढूँढ़े री!! बरेली के बाजार में झुमका गिरा री!

रात को चौंक पूजा जाता! सुशीला का शृंगार कर औरतें घेर कर बैठ जाती और गीत शुरू हो जाता-

न पकड़ो हाथ मनमोहन, कलाई टूट जाएगी!! कलाई टूट जाएगी, जवाहर की जड़ी चूड़ी, हमारी टूट जाएगी,!! न पकड़ो हाथ मनमोहन, कलाई टूट जाएगी।"⁴

'धूमकेतु : एक श्रुति' में दीवाली और दशहरे के बीच में होने वाले त्यौहार उत्सव को नरेश मेहता ने इस तरह दर्शाया है- "लड़के घर-घर छल्ला बोलो, गाते हुए चन्दा इकट्ठा करते फिरते हैं। लड़कियाँ मुहल्ले में ही कच्चे घड़ों में दीपे रख गाती

फिरती हैं। प्रायः लड़के, लड़कियों के इन घड़ों को फोड़ दिया करते हैं। शोर होता है। लड़के भाग निकलते हैं और लड़के गाते हैं-

- छला बोला की बोल की रे
- भैंस को बोलो सींग
- जीमे, बैठयो नाथू दरजी, तो
- टोपी सीवे तीन
- छल्लो बोलो छल्लो रे!!⁵

‘नदी यशस्वी है’ में जिस दिन उदयन के स्कूल में सरकार के जन्म दिन का उत्सव मनाया जाता है तो स्कूल को बहुत सजाया जाता है- “झड़ियों से स्कूल खूब सजाया जाता था। लाल कपड़े पर सुनहरी कागज़ के अक्षरों से ‘महाराज चिरायु हो’, ‘सुस्वागतम्’ आदि काट कर चिपकाए गए थे। स्काउट के लड़कों ने बैंड बजाया, परेड हुई, खेलकूद हुई। तोराण, बन्दनवारे लटकायी गयी थीं। केलें के खम्बों से सजाकर एक सिंहासन पर महाराज का एक चित्रण सुशोभित था।”⁶

‘डूबते मस्तूल’ में मेहता जी होली के त्यौहार का चित्र प्रस्तुत करते हैं। लोग किस तरह खुशी से होली खेल रहे हैं। उनमें कपड़े और बाल कैसे रंगीन हो गए हैं। नरेश जी होली खेलते लोगों का चित्रण करते हुए एक जगह लिखते हैं- “ट्रकों पर लदे हुए पंजाबी होली मनाते हुए जा रहे हैं। औरतों के मोटे-मोटे स्तन और पेट इनकी गीली कमीजों से कैसे चिपके दिखाई दे रहे है।”⁷

संस्कृत तथा सभ्यता के व्यापक दायरे में शिष्टाचार तथा आचार-व्यवहार के नियम सामान्यतः आ जाते हैं। शिष्टाचार से अभिप्राय है अच्छा आचार-व्यवहार। समाज के सभी वर्गों के प्रति, सभी जीवों के प्रति समभाव से किसी को कष्ट न पहुँचाना ही शिष्टाचार कहलाता है। उपन्यासों के कतिपय पात्र इस आचार का वहन करते हैं और कुछ नहीं भी करते हैं जो शिष्टाचार का वहन करते हैं उनका चरित्र, व्यक्तित्व अलग ही साँचों में ढलता है।

‘यह पथबन्धु’ में नरेश मेहता ने श्रीधर को शिष्टाचारी व्यक्तित्व वाला दिखाया है। वह स्वभाव से बहुत नम्र है। वह किसी को भी बुरा नहीं कहते, “जो राह चलते भूलकर भी सिर नहीं ऊँचा करते। प्रायः लोगों ने उन्हें चुप्पा ही देखा था। पढ़ाते हुए भी वे कभी ऊँचा नहीं बोलते थे। बल्कि हाजिरी भरते हुए वे लड़कों का नाम तक नहीं पुकारते थे। रजिस्टर खोला, चुपचाप लड़कों की ओर देखते चले गये और भर लिया कौन आया कौन नहीं आया। श्रीधर बाबू नियमनिष्ठ

थे बल्कि यह कहा जाए कि वे अपनी सीमाओं को भलि-भाँति जानने वाले व्यक्ति थे।”⁸

इसी उपन्यास में सरस्वती का शिष्टाचारी व्यक्तित्व भी दृष्टिगोचर होता है। “सरस्वती जो किसी पर क्रोध नहीं कर सकती, उस पर कोई कितना भी लाद दे वह कभी भार के वहन से नहीं टूटेगी। इसलिए अनेक गृहस्थियों का भार उस अकेली पर है। जबकि दूसरी बहुओं ने अपने कुल और पति की कमाई पर दम्भ किया था। वह चाहती तो स्वयं भी अपने ज्ञान का दंभ भर सकती थी। लेकिन दूसरों के दंभ को उसने नतमस्तक होकर वास्तविक मानकर अपने को हेम हो जाने दिया।”⁹

‘धूमकेतु : एक श्रुति’ में नरेश मेहता ने उदयन के बा के साहू पुराणी बा का शिष्टाचारी व्यक्तित्व इस तरह प्रस्तुत किया है कि वे संस्कारी व्यक्ति हैं। अपनी पूजा-पाठ में लीन रहते हैं, “पुराणी बा वैसे अत्यन्त विनम्र, मृदभाषी थे लेकिन वह किसी के यहाँ कभी नहीं जाते थे। फलित ज्योतिष में उनका नाम आसपास के राजा-महाराजाओं तक पहुँच चुका था। आये दिन राजा-महाराजाओं के बुलावे आते रहते लेकिन वह अपनी मसन्द छोड़कर कभी भी नहीं गये।”¹⁰

‘दो एकान्त’ में नरेश मेहता ने विवेक का नम्र और शिष्टाचारी व्यक्तित्व सामने रखा है। विवेक स्वभाव से बहुत नम्र है और बहुत संकोची है। इसी कारण वह इतना प्रसिद्ध डॉक्टर होते हुए भी पैसों की कमी महसूस करता है। क्योंकि वह अपने संकोची तथा नम्र स्वभाव के कारण किसी से फीस के पैसे नहीं लेता है, “पहली बार में ही व्यक्ति के इतने निकट हो जाता है कि ‘इंजैक्शन या ‘प्रिसक्रिपशन’ की दवा के पैसे मांगने में भी उसे जाने कैसे संकोच होता था।”¹¹

‘यह पथबन्धु था’ में कान्ता के व्यवहार को नरेश मेहता ने इस तरह चित्रित किया है कि कान्ता की माँ का उसकी काकी के साथ अच्छा व्यवहार न होने पर भी कान्ता अपनी काकी की बहुत इज्जत करती है। वह उसे अपनी माँ के समान मानती है। काकी सरस्वती कान्ता के नम्र व्यवहार के बारे में सोचती है कि “कान्ता कितनी मिलनसार हँसमुख स्वभाव की है। जब यहाँ थी तो गुणवंती को तो सगी बहन से ज्यादा मानती रही है। अपनी काकी माँ को अपनी सगी माँ से कम थोड़े ही मानती रही है? केवल कान्ता ही तो एक ऐसी रही है जो दिन-भर हँसना-खेलना और खान किया करती थी। बड़ा हो या छोटा अपना हो या पराया, सबके साथ प्रेम से बोला करती थी।”¹²

उपन्यास में गुणवन्ती के व्यवहार को इस तरह दिखाया गया है- “उसे कोई भी चीज़ मिली हो और भाई-बहन को छोड़कर खाई हो उसने। धीरे-धीरे कैसे शान्त गंभीर होती चली गयी। बड़े होने पर सबके लिए कितना ममत्व था उसमें। कभी किसी ने उसे जोरो से बोलते नहीं सुना होगा। जाने कहाँ से इतनी सुशील हो गई थी अपने आप। कभी उसके चलने की आहट तक नहीं आती।”¹³

इसी उपन्यास में सावित्री देवी जो कि सरस्वती की जेठानी है का व्यवहार मेहता जी ने प्रस्तुत किया है। सावित्री, अपनी देवरानी सरस्वती तथा उसके बच्चों के साथ बहुत बुरा व्यवहार करती है। सरस्वती के बीमार हो जाने के बावजूद भी वह उससे घर का काम करवाती है और जब सरो की बेटी गुनी घर का काम खराब करती है तो उसे बहुत पिटती है। यहाँ तक कि जब गुनी का रिश्ते के लिए घर वालों ने बड़नगर में लड़का तय किया, “तो महारानी ने यहाँ से पत्र लिखकर अपने भाई को बड़नगर भेज कर बात तुड़वा दी”¹⁴ उस पर लांछन लगाया कि सरो चरित्रहीन थी इसलिए पति उसे छोड़कर चला गया है।

‘धूमकेतु : एक श्रुति’ में इच्छाशंकर का अपने परिवार के प्रति व्यवहार नरेश मेहता ने दिखाया है कि इच्छाशंकर घर में सभी के साथ अच्छा व्यवहार करता है। घर वालों के हर काम में उनका हाथ बँटाता है तथा अपने भाइयों की पढ़ाई के लिए वह खुद अपनी पढ़ाई छोड़ देता है। लज्जाशंकर के अपनी विधवा बहन के प्रति व्यवहार को नरेश मेहता ने दिखाया है कि लज्जाशंकर “बहन के लिए भी कोई ऐसा पक्का प्रबंध कर देना चाहते थे कि कल से कुछ अशुभ हो जाए तो अपनी इस बहन को निराश्रित न होना पड़े। इसलिए वह बिना किसी को बताये बहन के परिश्रम की रकम एक तरफ जमा करते जा रहे थे।”¹⁵

‘डूबते मस्तूल’ में कर्नल टामस को बहुत अच्छे व्यक्तित्व वाला दिखाया गया है। वह सभी लोगों के साथ प्यार से पेश आता है। सभी के साथ अच्छा व्यवहार करता है। उपन्यास में रंजना टामस के व्यवहार के बारे में सोचती है कि “कितना सभ्य था वह। कभी उसने कोई अशिष्टता का व्यवहार नहीं किया। जबकि मिल्ट्री की शिष्टता सिविलियन लोगों को अश्लीलता की समाप्ति पर प्रारंभ होती है। पर टामस ने मुझे शिकायत का कोई अवसर नहीं दिया।”¹⁶

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में हर वर्ग अपने-अपने ढंग से रहता है। उच्च वर्गीय लोग जहाँ आलिशान मकानों में रहते हैं वहीं निम्न वर्ग के लोग झोपड़ियों में अपना

जीवन निर्वाह करते हैं। श्री नरेश मेहता के उपन्यासों में सभी वर्गों, उच्च वर्ग, मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग का रहन-सहन दृष्टिगोचर होता है। उनके औपन्यासिक पात्रों का रहन-सहन इस प्रकार है- ‘यह पथबन्धु था’ उपन्यास मध्यवर्ग के परिवार की कहानी है। श्रीधर तथा उसके परिवार के रहन-सहन से उपन्यासकार ने मध्य वर्ग के लोगों का रहन-सहन प्रस्तुत किया है।

श्रीधर के कमरे का वर्णन करते हुए मेहता जी कहते हैं- “जो कभी छत था लेकिन अब लकड़ी की दीवारों से तथा खिड़कियों से कमरा बना दिया गया था। यह कमरा श्रीधर बाबू की बैठक थी। छत बहुत ऊँची नहीं थी। लेकिन फिर भी सरस्वती ने सफेदी पोत कर टाट लगवाया दिया था और उसमें लाल-हरे कागज़ के फूल चिपका दिये थे। अपने मँझले बेटे की बैठक सजाने के लिए माँ नीचे की बैठक से शीशे पर बने हुए राधाकृष्ण, शिव-पार्वती के चित्र ले आयी थी। मराठी परिवेश के रवि शर्मा के भी दो चार मित्र थे। एक बड़ी-सी लेकिन पुरानी लाल जाजम जिस पर एक गद्दा और चादर तथा एक गाव-तकिया कोने में एक अलमारी जिसमें श्रीधर बाबू की अपनी पुस्तकें।”¹⁷

श्री नरेश मेहता ने जहाँ पर मध्य वर्ग का रहन-सहन दिखाया है वहीं इस उपन्यास में उच्चवर्गीय परिवारों का रहन-सहन भी दर्शाया गया है। बाला साहब उच्चवर्गीय व्यक्ति हैं। वह गाँव के अमीर लोगों में आते हैं। उपन्यासकार ने उनका रहन-सहन इस तरह प्रस्तुत किया है- “दीवारों पर तैलचित्र टंगे हुए थे। खिड़कियों और दरवाजों के ऊपर हिरण और बारहसिंघों के सिर व सिंग लगे हुए थे। कमरे के बीचों बीच एक बड़ी-सी अंडाकार टेबल थी। तालाब की आरे की बड़ी खिड़की की तरफ एक बारजा था जहाँ सुन्दर-सी एक चौकी रखी थी, जिस पर गद्दी-तकिये लगे हुए थे तथा बाघम्बर बिछा हुआ था। बाँये हाथ एक बड़ा-सा पर्दा पड़ा था।”¹⁸

प्रस्तुत उपन्यास में नरेश मेहता जी ने उच्च वर्ग, मध्यवर्ग के रहन-सहन के साथ-साथ निम्न वर्ग का रहन-सहन भी प्रस्तुत किया है। श्रीधर जब मिल मजदूरों की झोपड़ियों में जाता है तो देखता है कि वहाँ पर बिजली का, पीने के पानी का कोई प्रबंध नहीं होता है। किसी-किसी चूल्हे में आग की लपकें दिख जाती- “इस पोखर में मिल का गन्दा पानी सुगंध मार रहा था।”¹⁹ वह बस्ती में घुसे तो देखा एक मजदूर अपनी पत्नी को बुरी तरह मार रहा था। श्रीधर बाबू ने पूछा- “क्यों रघुनाथ। क्या बात है ये-गुरु जी! यह मेरी औरत है

इसलिए मार रहा हूँ।'²⁰

मेहता जी ने उपन्यास में पुस्तकें साहब जो पेशे से वकील हैं तथा काफी पैसे वाले व्यक्ति हैं का रहन-सहन उस समय दर्शाया है जब श्रीधर उनसे मिलने उनके घर जाता है। श्रीधर ने वहाँ जाकर देखा, “छत में सफेद चाँदनी तनी हुई थी। चौकी पर एक तरफ लकड़ी का बक्सा था जिस पर पीतल का काम किया हुआ था। उसके पास ही एक कानूनी किताबें, डायरी, चश्मा तथा कमलदान और बालू की एक सुराखों वाली पीतल की डिब्बी। एक पानदान भी स्टूल पर रखा हुआ था।”²¹

‘धूमकेतु : एक श्रुति’ में नरेश मेहता ने ‘पुराणी बा’ का रहन-सहन इस तरह दर्शाया है। ‘पुराणी बा’ एक साधारण व्यक्ति है तथा हर समय भक्ति पूजा-पाठ में लीन रहते हैं। जब उदयन अपने बा के साथ पुरानी बा के घर उनसे मिलने जाता है तो उसका रहन-सहन देखता है- “एक बड़ा-सा कलदार फाटक जो सहन में खुलता है। चारों ओर यह सहन एक पक्की चौखड़ी को घेरे हुए है। चौखड़ी के बीचों बीच श्यामा-तुलसी का एक खड़ा ऊँचा-सा चौरा है, जो एक प्रकार से दीपाधार भी है। नवदुर्गा एवं श्रद्धापक्ष में आगे सजा को रखा जाता है। सहन के एक ओर एक बड़ा-सा कमरा है। ठीक इसके सामने रानी घर है। सहन के तार पर दिन भर पुरानी बा के कपड़े आदि सूखते रहते हैं। सहन ने एक कोने में पीछे बाहर जाने के लिए एक दरवाजा है। उधर ही गाय भैंस के लिए छप्पर छाया हुआ है।”²²

‘नदी यशस्वी है’ में सूर्याशंकर जोकि एक सरकारी अफसर है, उसका रहन-सहन देखने में उस समय आता है जब उदयन उनके साथ रहने के लिए जाता है। उदयन घर जाकर उनका रहन-सहन देखता है कि- “छत से लगा चला गया एक लम्बा गलियारा है। गलियारे में छत की ओर खिड़कियाँ हैं। आगे जाकर गलियारा दक्षिण की ओर मोड़ लेता है। गलियारे की दीवारें, छत तथा फर्श सब लकड़ी के थे।”²³

उदयन जब सैकेण्ड मास्टर लाल सिंह के साथ उनके घर जाता है तो उनका रहन-सहन देखता है, “लाल सिंह का घर क्या था जैसे खजूर की चटाई। एक दम धुला-पूँछा, अलंकारहीन। कमरे में एक डोरी पर एक कुरता, पाजामा, बनियान तथा तौलिया सूखते रहते। भीतर रसोई घर में दो एक बर्तन तथा एकाध डिब्बा। बैठक में कुछ किताबें, दवाई का बक्सा, अखबारों के ढेर तथा एक दरी का टुकड़ा। बिस्तर के नाम पर कोने में एक खाट खड़ी रहती जिस पर गोल किया

नाममात्र एक बिस्तर भी था।”²⁴

‘डूबते मस्तूल’ में नरेश जी ने पुरी का रहन-सहन दर्शाया है। जब स्वामीनाथन अपने मित्र पुरी से मिलने लखनऊ आता है तो देखता है कि घर का दरवाजा बंद है और इस ‘लकड़ी के दरवाजे पर पुरी का नाम जरूर है, लेकिन पीतल का नहीं-काली दफ्ती पर सफेदी से लिखा हुआ नाम जो कि बहुत पुराना पड़ चुका है। आहते का फाटक जरूर ही पुराना है। हालांकि तारकोल पोत कर चमचमा दिया गया है।”²⁵

संदर्भ-

1. श्रीनरेश मेहता, यह पथबन्धु था, पृ. 30
2. वही, पृ. 54
3. वही, पृ. 98
4. वही, पृ. 519
5. श्रीनरेश मेहता, धूमकेतु : एक श्रुति, पृ. 75
6. श्रीनरेश मेहता, नदी यशस्वी है, पृ. 76
7. श्रीनरेश मेहता, डूबते मस्तूल, पृ. 14
8. यह पथबन्धु था, पृ. 24
9. वही, पृ. 70
10. धूमकेतु : एक श्रुति, पृ. 170
11. श्रीनरेश मेहता, दो एकान्त, पृ. 160
12. यह पथबन्धु था, पृ. 356
13. वही, पृ. 463
14. वही, पृ. 453
15. धूमकेतु : एक श्रुति, पृ. 228
16. डूबते मस्तूल, पृ. 123
17. यह पथबन्धु था, पृ. 35
18. वही, पृ. 77
19. वही, पृ. 219
20. वही, पृ. 219
21. वही, पृ. 228
22. धूमकेतु : एक श्रुति, पृ. 169
23. नदी यशस्वी है, पृ. 21
24. वही, पृ. 244
25. डूबते मस्तूल, पृ. 22

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

लोकजीवन के प्रखर गायक अष्टछाप के कवि सूरदास

ख्याति सोनी

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति कवियों में ब्रजमंडल के कृष्णभक्त कवियों का प्रमुख स्थान है। ब्रज के कृष्णभक्त कवि यद्यपि किसी न किसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे, किन्तु उनकी भक्ति-भावना में साम्प्रदायिक दृष्टि का प्रभाव उस सीमा तक नहीं था कि उनकी काव्य साधना के स्वाभाविक उन्मेष को प्रभावित कर सकें उनकी यही सहजता उन्हें लोकजीवन से जोड़ती है। प्रायः भक्त कवियों को पलायनवादी कहा जाता है कि ये समाज से हटकर केवल भक्ति की तन्मयता में डूबे रहते थे, परंतु यह पूर्णतः सत्य नहीं, क्योंकि इन कवियों ने कहीं न कहीं लोकजीवन के सुंदर चित्र अपने काव्य में उकेरे हैं, अतः सर्वप्रथम हम लोक शब्द की व्याख्या करेंगे।

लोक शब्द संस्कृत के लोक दर्शन धातु से घञ प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ देखना है। जिसका लट् लकार के अन्य पुरुष के एकवचन का रूप 'लोकते' है। अतः लोक शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला इस प्रकार व समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है लोक कहा जा सकता है। लोक शब्द से हिन्दी के लोग शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है जिसका तात्पर्य है सर्वसाधारण जनता। अतः लोक शब्द का अभिप्राय उस समस्त जनसमूह से है जो किसी देश में निवास करता है।

लोक शब्द की परिभाषा के संबंध में अनेक विद्वानों ने अपना मत अभिव्यक्त किया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक के संबंध में अपने विचारों को प्रकट करते हुये लिखा है कि "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समस्त जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा, अधिक सरल तथा अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समृची विलासिता और सुकुमरता को जीवन रखने के लिये जो भी वस्तुएँ आवश्यक

होती हैं उन्हें उत्पन्न करते हैं।"¹

भारत के लोक साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. कुंज बिहारीदास ने लोक शब्द की सुंदर व्याख्या प्रस्तुत की है। "इससे स्पष्टता ज्ञात होता है कि लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुये अपनी पुरातन परिस्थिति में वर्तमान है, उन्हें ही लोक कहा जाता है।"²

"लोक शब्द के लिये फोकलोर शब्द भी प्रचलित है।" फोकलोर यह समसित पद है जिसमें दो शब्द सम्मिलित है (1) फोक और (2) लोर। फोक (विसा) शब्द की व्युत्पत्ति ऐंग्लो सेक्शन शब्द फोल्क (विसा) से मानी जाती है। जर्मन भाषा में इसे वोल्फ (wolf) कहते हैं। डॉ. बार्कर ने फोक शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है कि फोक शब्द से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी पूरी जाति का बोध होता है। परंतु यदि इसका विस्तृत अर्थ लिया जाए तो किसी सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं लेकिन फोकलोर के संदर्भ में फोक शब्द का अर्थ "असंस्कृत लोग हैं। अंग्रेजी फोक के लिये इसी अर्थ में हिन्दी के लोक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।" दूसरा शब्द लोर (lore) है जो ऐंग्लो सेक्शन लर (संत) शब्द से निकला हुआ है। लोर शब्द का अर्थ नॉलेज (ज्ञान) अथवा लर्निंग (विद्या) होता है।"³

अतः फोकलोर का अर्थ हुआ सामान्य जनता का ज्ञान अथवा विद्या। कहने का आशय यह है कि जनता जनार्दन का यातत् ज्ञान है, उनकी जो कुछ जानकारी है, वह सभी कुछ फोकलोर के अध्ययन का विषय है। इस प्रकार जनता के रीति-रिवाज, विधि-विधान, क्रिया-कलाप, विश्वास, प्रथा, परम्परा और लोक साहित्य गीत कथा, गाथा, नाट्य से सभी विषय फोकलोर में अन्तर्भूत होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि लोक के अंतर्गत उस क्षेत्र विशेष के रीति-रिवाज, विश्वास, कला, शिल्प, वेश-भूषा, जन-जीवन से संबंधित जितने भी आचार-विचार,

विधि-निषेध, प्रथा-परम्परा, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, खान-पान, वेश-भूषा, लोक कथायें, लोक गीत इत्यादि आ जाती है। कृष्ण भक्ति काव्य में सूरदास जी का विशेष स्थान है। वे सम्प्रदाय में बंधे कृष्णभक्त अवश्य हैं परन्तु कृष्ण जीवन के सरस चित्र उन्होंने अपने काव्य में उकेरे हैं, वे अद्वितीय हैं।

सूर ने अपने परमाराध्य की अष्टयाम चर्चा और वर्षोत्सव क्रम में लिखे गये पदों के अंतर्गत समाज के विविध पहलुओं को बड़ी स्पष्टता के साथ उजागर किया है। कृष्ण को काव्य का आधार बनाकर कवि ने जिस लोकोन्मुखी काव्यधारा का निर्माण किया, वह किसी कालावधि में बंधी नहीं रहेगी तथा उसे देश और समय विशेष की सीमाओं में बाँधकर रख नहीं सकते। परवर्ती कवियों ने उसे अत्यधिक समृद्धि प्रदान की परन्तु सूरदास इसमें अद्वितीय हैं। “नेत्र विहीन सूर जो जीवनारंभ से लेकर जीवनावसान तक ब्रज में ही रहे। ब्रज जीवन के अच्छे पारखी थे। अपने काव्य में उन्होंने ब्रज के सभी संस्कारों, धार्मिक विश्वासों, तात्कालिक सभी प्रथाओं, रहन-सहन अनेक व्यवसायों, परंपरागत रूढ़ियों, पर्वों और उत्सवों, सम्मोहन, जादू, ताबीज, भाग्य एवं डिटौना आदि का आंकलन जिस पटुता से किया है वह सर्वथा सराहनीय है।”⁴

समग्र जीवन को इस प्रकार किसी अन्य कवि ने अपने काव्य का विषय नहीं बनाया है, यह सूर की अपनी विशेषता है और वही इसके आद्य पुरुषकर्ता हैं।

सूर ने ब्रज नायक कृष्ण के आलंबनत्व में शैशव और यौवन की अन्यान्य क्रीड़ाओं का अभिव्यंजना करने वाले जिस समाज की स्थापना की वह आकार में लघु होते हुए भी श्रेष्ठता में महान है। बालक कृष्ण इस समाज की धुरी है। प्रत्येक के आकर्षण का केन्द्र प्रत्येक पात्र किसी न किसी रूप में, शिशु के साथ अपना संबंध बनाए हुए हैं। माँ (मैया), बाबा (पिता), भैया (दाऊ), प्रेयसी, सखाओं, अन्यान्य गोप-बन्धुओं, पड़ोसियों, सेवकों और शत्रुओं से निर्मित इस समाज की प्रमुख विशेषता इसकी वर्ण व्यवस्था है। जो मध्यकाल के तात्कालिक वातावरण की उपज है परन्तु इसके नायक श्रीकृष्ण सहज रूप में लोक जीवन के साथ जुड़ते हैं। वर्ण-व्यवस्था की स्पष्ट झलक समाज पर दिखाई पड़ती है। परन्तु कृष्ण के दैनिक क्रिया-कलापों के कारण यह गौण होकर केवल उनकी सरस लीला ही सामने आती है। जो उन्हें लोक में प्रचलित रीति-रिवाज व प्रथाओं से जोड़ती है और उस समाज के आनंद का केन्द्र-बिन्दु बन जाता है।

कृष्णयुगीन समाज में सर्वत्र ब्राह्मणों का सम्मान होता था। कृष्ण के जन्म लेने पर नंद ब्राह्मणों को बुलाकर चंदन का तिलक करते हैं, पहिरावनी पहनाते हैं, पैर पड़ते हैं तथा

ताँबे के खुर, चाँदी की पीठ एवं स्वर्ण के सींगों वाली अगणित गायें, उन्हें दान में देते हैं, जिसमें तात्कालिक लोकाचार की स्पष्ट छवि दिखाई पड़ती है- “घसि चंदन चारू मँगाइ, विप्रनि तिलक करे ।/द्विज-गुरुजन कौं पहिराइ, सबकै पाइ परे ।।/खुर ताँबे, रूपै पीठि, सोने सींग मढ़ी/ते दीन्हीं द्वि जानि अनेक; हरषि असीस पढ़ी ।”⁵

हमारे निदिष्ट काल में ब्राह्मणों का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि हर छोटे-बड़े कार्य को संपन्न कराने के लिए ब्राह्मणों को आमंत्रित किया जाता था। कृष्ण को गौचारण जाते देख द्विजगण का ‘असीस’ पढ़ना, दूध-दुहना सीखने में विप्रों का मंत्रोच्चारण करना एवं गोवर्धन पूजा के अवसर पर ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ कराने में विप्रों का विशेष योगदान हुआ करता था। जिसमें न केवल नंद के परिवार के लोग ही नहीं वरन् समस्त ग्रामवासी भी शामिल होते हैं। जो उस समय के लोक-रीति के अनुसार ही हैं।

सूर ने कृष्ण के जन्मोत्सव का बड़ा लौकिक चित्र उतारा है। ब्रज, बहुएँ, सहज शृंगार किए हुए सोने की थाली में दधि, दूब, रोचन, रखकर बधावा ले जा रही हैं। हर्ष-विह्वल, नर-नारी, गाते बजाते, उछल-कूद करते नंद के घर की ओर बढ़े जा रहे हैं। चंदन, चोबा, अबीर और पीली दही अधिक छिड़की गई है कि फिसलन हो रही है, लोग फिसल रहे हैं और दूसरे उन्हें गोद में भर-भर कर उठा रहे हैं। इस अवसर पर नंद लोगों को दान सेवकों को नेग एवं परिचितों को सुन्दर वस्तुएँ भेंट करना नहीं भूलते हैं- “कंचन थार दूब दधि रोचन गावति चारू बधाई ।/भाँति, भाँति बनि चलीं जुवति जन, उपमा बरनि न जाई ।।/सूरदास प्रभु भक्त हेत हित, दृष्टिनि के दुखदाई ।”⁶

‘सोहार’ के गीतों की मधुर ध्वनि फैल रही है। इन्हीं गीतों के स्वरारोहावरोह में कागज़ की रोरी के योग से छठी का चार बनाया जाता है। इस अवसर पर ‘चिहुरका’ नाम का लोकगीत भी गाया जाता है। शिशु की माता को गालियाँ देना इस गीत का प्रतिपाद्य है- “गोरि गनेस्वर बीनऊँ (हो), देवी सारद तोहि ।/गावौ हरि को सोहिलौ (हो), मन आखर दै मोहि ।।”⁷

जातकर्म के बाद कृष्ण का नामकरण होता है। यह संस्कार पूर्णतः पौरिहित्य संस्कार है। इस संस्कार पर गीतों की ध्वनि के स्थान पर वेदमंत्रों की ध्वनि सुनाई पड़ा करती है। आदिऋषि लग्न शोधकर, ज्योतिष गिनकर और बहुत-सी बातों का विचार करके नाम सुनाता है।

कृष्ण के बड़े होने पर वे गोप-सखाओं के साथ वन में गोचारण के लिए जाते हैं, तात्कालिक, समाज में पशुपालन

एक अनिवार्य अंग था उनके लोकजीवन का अभिन्न हिस्सा क्योंकि सम्पन्न परिवार से संबंध रखने वाले श्रीकृष्ण भी अन्य गोप-बालकों के साथ वन में गोचारण के लिए जाते हैं। सूर के काव्य में ऐसा समाज है, जिसमें पशुपालन कृषि व्यवस्था का अंग है और गोचारण किसान जीवन के व्यापक अनुभवों का हिस्सा। ग्राम समाज और किसान जीवन में लोक अनुभव और लोककला के पुराने रूप बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं इसलिए उस समाज और जीवन से जुड़ी कविता में नए के साथ पुराने अनुभवों और कलारूपों का आना स्वाभाविक है।

“सूर के काव्य में गोचारण का जो चित्रण है, उसमें उस काल के गोचारण संबंधी अनुभवों के साथ अतीत के अनुभवों की स्मृति भी है, उनके गोचारण गीतों में पुराने ग्वाल गीतों की अनुगूँज मौजूद है। इसलिए सूरसागर के गोचारण गीतों को चरागाह संस्कृति की कविता या आदिम गोचारण काव्य समझना गलत है। सूर का काव्य अपने समय और समाज से जुड़ा हुआ काव्य है।”⁸ यही कारण है कि किसान-जीवन से जुड़े कवि के लिए पशु-प्रकृति की पहचान आवश्यक है, क्योंकि जिस लोक जीवन का वर्णन उन्होंने अपने काव्य में किया है वहाँ पशुधन अनमोल हैं, इसलिए गोपाल लीला के गायक कवि के लिए तो गाय के रूप, रंग, और स्वभाव में गहरी दिलचस्पी अनिवार्य है। सूर के विनय के पदों में गाय के स्वभाव से संबंधित अनेक रूप हैं। एक पद में हरही गाय के स्वभाव का विस्तृत वर्णन है- “माधौ जू, यह मेरी इक गाई/अब आज तैं आप आगैं दर्ई, लै आइयै चराइ/हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन मोह।”⁹

सूरदास ने ‘सूरसागर’ में अनेक विवाहों का वर्णन भी किया है। सूरदास ने राधा और कृष्ण के गंधर्व विवाह का बड़ा सांगोपांग वर्णन किया है। गोद भरना, विवाह स्थल पर उपस्थित होने के लिए गोपियों को मुरली के स्वर में निमंत्रण देना, छप्पन कोटि के बारातियों का चलना, बहू का गोरी पूजना, भाँवरों के लिए मंडप छाना और उसमें कंदी खंभों, विचित्र किसलयदल होना, नाना रूप धारण करके दुल्हन को दूल्हे को देखने की वांछा प्रगट करना आदि रीति-रिवाज, तात्कालिक समाज में उपस्थित लोकरीति के अनुसार ही है, जो उस समय के लोक जीवन में प्रचलित थे- “दुलहिनि छोरी दुलह कौकंकन, बोलि बना वृषभान/कमल कमल करि बरनत हैं हो, पानि प्रिया के लाल।/अब कवि कुल साँचे से लागत, रोम कँटीले बाल/लीला रहस गुपाल लाल की, जो रस रसिक बखान।/सदा रहैं यह अविचल जोरि, बलि-बलि सूर सुजान।”¹⁰

लोक गीत, लोक जीवन का अभिन्न हिस्सा होते हैं क्योंकि लोक गीत मानव हृदय के सच्चे उद्गार होते हैं। इनमें जीवन का निष्कपट अभिव्यंजन होता है। लोकगीतों के प्रत्येक शब्दों में जीवन की यथार्थ चेतना घुली-मिली रहती है।

लोकगीत समुदाय की भावनाओं के सच्चे प्रतीक होते हैं। ये जीवन मूल्यों पर प्रकाश डालते हैं। इसमें लोक-जीवन के सुख-दुःख, माधुर्य और करुणा तथा अजु और हास का भावपूर्ण चित्रण रहता है। केवल प्रेम और विरह ही नहीं, जीवन के अन्य पक्षों की भी मार्मिक अभिव्यक्ति इन गीतों में होती है।

“भारत वर्ष का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओं, रीति-रिवाजों और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता, जितना कि लोकगीत कर सकते हैं।”¹¹

पर्वोत्सवों और त्यौहारों के गीतों में होली का गीत अपना विशेष महत्त्व रखता है। वसन्तोत्सव का उल्लास साकार रूप ग्रहण करके होली के रूप में फूट पड़ता है। यह गीत अधिकतर पुरुषों द्वारा गाया जाता है। ढोल, झप, झांझ, मृदंग और करतारों की तुमुल ध्वनि के बीच गाने वालों की उठती-गिरती स्वर लहरी मन को हठात आकर्षित कर लेती है। यहाँ एक गीत के लौकिक सौन्दर्य की अभिव्यंजना का दृष्टव्य है- “या गोकुल के चौहते रंगभीजी ग्वालिनी/हरि संग खेले फाग सलौनी री रंग मंची ग्वालिनी/दुदंभी बाजै गहगही रंगभीजी ग्वालिनी/नगर कुलाहल होइ नैन सलौनी री, रंगराँची ग्वालिनी/उमड़ यौ मानुष घोष यौ रंगभीजी ग्वालिनी/भरे परस्पर आनि नैन सलीने री, रंग राँची ग्वालिनी।”¹²

सूर के कुछ गीत ऐसे भी लिखे हैं, जिसमें एक पक्ष तथा एक मास की होली के प्रतिदिन का वर्णन है।

“ऋतुओं के गीतों में मल्हार का प्रमुख स्थान है। यह एक प्रकार का सहगान है जो ब्रज-नारियों के कंठ से निःसृत होकर चतुर्दिक फैलता जाता है। वर्ष के प्रारंभ होते ही मोर की कुहुक का हृदय में बस जाना, बगुलों की श्वेत पंक्ति का हार बनकर चित्त को खींचना, बार-बार बिजली का कौंधना, पपीहों का शोर, भूमि की हरियाली आदि उपादान उद्दीपक वातावरण की सृष्टि करके नारियों को झूलने और गीत गाने को बाध्य कर देते हैं। पल में झूला आकाश से बातें करने लगता है और नारियों के कंठ से निःसृत गीत अपनी मधुरिमा को लेकर चारों ओर के वातावरण में बिखर जाते हैं।”¹³

मनोरंजन के गीतों में ‘रसिया’ का विशेष स्थान है। यह ब्रज में अधिकतर मेलों, उत्सवों और त्यौहारों पर सुनने को

मिलता है। यह पुरुषों द्वारा गाया जाने वाला श्रृंगार रस का गीत है।

डॉ. हरगुलाल के शब्दों में- “सूर ने कृष्ण की जल क्रीड़ा, पनघट लीला तथा दान लीला का वर्णन करते समय जिन पदों का सृजन किया है, वे रसिया की प्रतिकृति के कहे जा सकते हैं। इन पदों की प्रवृत्ति पूर्णतः रसिया की ओर झुकी हुई है। यद्यपि इन पदों को शास्त्रीय रागों में बाँधा गया है परन्तु इनकी सहज लय, सहज समुच्छ्वसित सामूहिक भावना तथा ग्रामीण शब्दावली इन्हें पूर्ण रूप से लोकगीत की कोटि में परिसीमित कर देती है।”¹⁴

मनोरंजन के गीतों में दूसरा स्थान ग्वाल वालों के गीतों का है, जिसे वे गाय चराते हुए, खेलते-कूदते हुए तथा दोपहर का भोजन करते हुए गाते रहते हैं।

सूरदास जी ने भ्रमरगीत तथा अन्य विरह गीत, लोक गीत ‘विरहा’ की शैली पर लिखे हैं। विरह के गीतों में प्रकृति कभी मानव की सगी बन जाती है तो कभी विपरीत रूप धारण कर काटने को दौड़ती है। पिउ-पिउ की रट लगाने वाला पपीहा कभी हृदय को जलाता है तो कभी प्रिय का नाम लेने के कारण अच्छा लगता है- “बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारे / बासत रैनि नाँव ले बोलत, भयो विरहजुर कारे।”¹⁵

लोकगीतों का नृत्य से बड़ा गहरा संबंध है। बिना नृत्य के लोकगीतों में संजीवता नहीं आ पाती है। नृत्य में नाना प्रकार के अलंकारों-वस्त्रों का प्रयोग होता है। लय, सुर और ताल के साथ विभिन्न मुद्राओं का चित्रण होता है, रास नृत्य की भी अपनी विशेष शैली होती है, जिसकी जानकारी सूरदास जी को भली-भाँति थी। लोक में प्रचलित नृत्य शैली के साथ-साथ वाद्य यंत्रों का प्रयोग जैसे मृदंग, सारंगी, झांझर आदि का चित्रण सूरदास जी ने अपने काव्य के माध्यम से किया है। जो उस समय लोक जीवन में विद्यमान थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि संपूर्ण ब्रजमंडल तथा ब्रज संस्कृति के सूरदास पारखी थे। तप, करुणा, आनंद और लोकमंगल भारतीय संस्कृति के चार आयाम हैं। सूरदास ने आनंद को चुना क्योंकि वह हमें भीतर से खोलकर जीवन के परिपूर्ण उपयोग द्वारा अविकृत भूमा में स्थापित करता। सूरदास का आनंद वर्णन न केवल सरस है वरन् संपूर्ण समाज में व्याप्त है। जिसमें समाज के हर वर्ग के लोग शामिल हो

जाते हैं और एक आदर्श समाज की स्थापना करते हैं साथ ही एक दूसरे के प्रति सौहार्द की भावना से पूर्ण होने के कारण लोकमंगल की भावना भी उनमें पूर्णरूपेण विद्यमान है। लोक जीवन के प्रमुख तत्त्व जैसे- संस्कार, रीति-रिवाज, पर्वोत्सव, त्यौहार, दैनिक क्रिया-कलाप, विवाह, लोकनृत्य, लोकगीत आदि के वर्णन में सूरदास की दृष्टि अत्याधिक विस्तृत एवं सूक्ष्म है। अतः सूरदास ब्रज संस्कृति एवं ब्रज लोक जीवन के सच्चे पारखी थे तथा युगों बाद भी उनका साहित्य अपने आप में एक अद्वितीय धरोहर है।

संदर्भ-

1. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोक भारती प्रकाशन, संस्करण, 1988, पृ. 10
2. वही, पृ. 10
3. वही, पृ. 8-9
4. (संपा.) डॉ. रामस्वरूप आर्य, सूर साहित्य संदर्भ, प्रकाशक सूर पंचराती समारोह समिति, बिजनौर (उ.प्र.) संस्करण, 1976, पृ. 144
5. (संपा.) नंददुलारे वाजपेयी, सूरसागर, दशम स्कन्ध, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ. 213, पद 642
6. वही, पद 640, पृ. 264
7. वही, पद 658, पृ. 275
8. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 296
9. (संपा.) नंददुलारे वाजपेयी, सूरसागर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, विनय के पद, सं. 51
10. वही, पद संख्या 1073
11. सन्तराम वैश्य, सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युगबोध, प्रथम संस्करण, 1992, पृ. 160
12. सूरसागर, पद संख्या 2867
13. सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युगबोध, पृ. 162
14. वही, पृ. 163
15. सूरसागर, पद संख्या 3273

शोध छात्रा (हिन्दी विभाग) डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.)

नई सदी की कविता : स्त्री विमर्श

डॉ. व्ही. आई. शेख

स्त्री विधाता की अद्भुत सृष्टि है। अनादि काल से वह पूजनीय, वंदनीय एवं पुरुष की प्रेरक शक्ति के रूप में उसके पीछे बनी रही, उसका निरंतर साथ देती रही लेकिन स्वार्थी पुरुष प्रधान समाज ने स्त्री से जो मिल रहा है उसे तो ले लिया लेकिन जब देने की बारी आई उसे उपेक्षित कर दिया उसे अधिकारों से वंचित रखा वह पीछे ही रहती गई और विमर्श की वस्तु बन गई। पुरुष का विमर्श नहीं होता शायद वह विमर्शातीत है। स्त्री कुछेक संदर्भ में इतनी विवश, मजबूर, दुःखी हो जाती है कि उसे कहना पड़ता है (पूर्वाचल का लोकगीत)

“ओरे विधाता, विनती करूँ, परू पड़ियाँ बारम्बार।

अगले जन्म मोहे बिटिया न कीजो, चाहे नरक में दिजो डारा।”

नई सदी सचमुच नयेपन को लेकर आ गई दिन नहीं, महीने नहीं सौ साल बीत गए 21वीं सदी आ गई। आज हम आधुनिक नहीं उत्तर आधुनिक दौर में जी रहे हैं जहाँ लिविंग टुगेदर, कटैक्ट मैरेज जैसे चोंचले चल रहे हैं शायद यहाँ पर भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्त्री को ही भुगतना पड़ता है। मीडिया अपने चरम पर है कम्प्यूटर युग के साथ इंटरनेट आ गया, अब मोबाइल फोन ही नहीं स्मार्ट फोन का जमाना है जिससे साइबर काइम बढ़ रहे हैं शायद यहाँ पर भी कुछ हद तक स्त्री को ही निशाना बनाया जा रहा है। ऐसे में स्त्री के लिए स्त्री ही सहारा बनना या साथ देना विशेष बात नहीं है क्योंकि “घायल की गति घायल ही जाने और न जाने कोय” जो स्त्री आगे बढ़ी है उसे संघर्ष करने पर ही वह स्थान मिला है।

नई सदी में कई नई कवयित्रियाँ आई पुरानी कवयित्रियाँ नए भाव के साथ नये विषय के साँचे में ढलने लगीं। 21वीं सदी की कवयित्रियों में प्रमुख रूप से गगन गिल, तेजी ग्रोवर, निर्मला पुतुल, निर्मला गर्ग, नीलेश रघुवंशी, इन्दु जैन, कात्यायनी, अनामिका, तस्तीमा, सुनीता जैन, स्नेहमयी चौधरी, कुसुम

अंसल, अमृता भारती, प्रभा खेतान, सविता सिंह, रंजना जायसवाल, ऋचा शर्मा, कीर्ति चौधरी, मोना गुलाटी, सुशीला टाकभरै, सुधा अरोड़ा, प्रज्ञा पाण्डेय आदि।

स्नेहमयी चौधरी ‘कुंती का आरोप’ में कहती हैं- “भेरी अगली पीढ़ियों/इस प्रकार नहीं उठाएँगी व्यथा का भार जो मैंने उठाया।”¹

महाभारत में कुंती ने समाज के भय से कर्ण को बेटा कहने से नकारा। उसकी भावनाओं को किसी ने नहीं समझा क्योंकि चरित्र के सारे मापदण्ड स्त्री के लिए ही होते हैं शायद पुरुष के लिए नहीं।

इसीलिए इक्कीसवीं सदी की स्त्री, शोषण की खामोशी तोड़कर आगे आने के लिए स्नेहमयी चौधरी पूछती है- “क्या आज भी 21वीं सदी में/सत्य कह पाओगी तुम/या चुप ही ढोओगी/कर्ण-जन्म की कथा का अभिशाप।”²

कवयित्री अनामिका ‘स्त्रियाँ’ कविता में स्त्री को भोग्य वस्तु समझने वालों से क्रोध व्यक्त करते हुए कह रही है- “भोगा गया हमको/बहुत दूर के रिश्तेदारों के/दुःख की तरह, एक दिन हमने कहा/हम भी इंसान है।”³

‘स्त्री विमर्श’ कविता में नीलेश रघुवंशी स्त्री की मुक्ति का नारा बुलंद आवाज़ में करती है- “मिल जानी चाहिए अब मुक्ति स्त्रियों को,/आखिर कब तक विमर्श में रहेगी/मुक्ति बननी चाहिए एक सड़क/चले जिस पर स्त्रियाँ ही।”⁴

आज की स्त्री समाज में पथ प्रदर्शन बन रही है। अपना अस्तित्व का निर्माण कर रही है। अलका सिन्हा ने ‘तेरी रोशनाई होना चाहती हूँ’ कविता में कहा है- “मुझे गढ़ने की ताकत दे हे ब्रह्म।/मैं संगतराश होना चाहती हूँ।”⁵

निर्मला पुतुल की कविता-‘स्वर्गवासी पिता के नाम पाती’ में स्त्री की असुरक्षा को देखते हुए एक बेटी स्वर्गवासी पिता को याद कर रही है- “बाबा इन्हीं लोगों ने छीना है बचपन/छीने हैं मेरे अनब्याहे सपने/मेरे हिस्से का वो खुला

आकाश/मेरी उन्मुक्त हँसी मेरी जवानी/बाबा बहुत याद आते हो तुम।”

समाज में स्त्रियाँ, बच्चियाँ हवस का शिकार हो जाती हैं जीवन भर शिला बन जाती हैं। कवयित्री ऋचा शर्मा इन स्थितियों को देखती हुई ‘भेष बदले घूमते हैं इन्द्र’ कविता में कहती हैं- “सचेत रहो, ऐसे इंद्र से/जो समाज में घूमते हैं हर जगह/भेष बदलकर, किसी भी स्त्री को/बनाने को शिला।”¹⁶

ऋचा शर्मा स्त्रियों को ये कहते हुए सचेत करती हैं-मैं जानती हूँ कलियुग में/लाख यत्न करने पर भी/भीषण अर्तनाद सुनकर भी/कोई कृष्ण नहीं आएगा/किसी पांचाली को बचाने।

रंजना जायसवाल भी इन्हीं भावना को व्यक्त करती हुई स्त्री के करुण रूदन को ‘चना और स्त्री’ नामक कविता में बताती है- “अंकुरित होते ही मेरे/पैदा हो जाते हैं तमाम प्रेमी/करते नहीं है इंतजार उगती हुई नन्हीं/मुलायम पत्तियों के हरा होने तक/गड़ाने लगते हैं अपने बेसब्र नाखून नुकीले।”¹⁷

स्त्री के लिए कई बार सफलता गगन कुसुम बन जाती है। सविता सिंह लिखती हैं- “अंधेरा कितना गहरा है/अब भी मेरे रास्ते कामेरी नियति है कि बिना किये पार इसे/मिलेगा न फूलों का बाग मुझे/न वह आकाश।”¹⁸

कात्यायनी अपने पहले काव्य संग्रह ‘सात भाइयों के बीच चम्पा’ के माध्यम से हिंदी में पूर्ण रूप से स्थापित हो जाती है। इनकी ‘इस स्त्री से डरो’ कविता स्त्रीत्व की कहानी कहती है- “यह स्त्री, सबकुछ जानती है/पिंजरे के बारे में जाल के बारे में/यंत्रणा ग्रहों के बारे में/रहस्यमय हैं इस स्त्री की उलटबासियाँ/इन्हें समझो। इस स्त्री से डरो।”

जीवन की पहली पाठशाला में ही लड़कियों ने यह सीखा है कि स्त्री की कोई अपनी जगह नहीं होती- “राम पाठशाला जा, राधा, खाना पका/अहा, नया घर है। राम, देख यह तेरा कमरा है।/और मेरा? ओ पगली/लड़कियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती है/उनका कोई घर नहीं होता।”¹⁹

त्यागमयी स्त्री को अपने घर से मुक्ति पाना भी सरल नहीं है अपनी जिम्मेदारियों में उसे लगता है मरने का हक भी वह खो चुकी है।

जैसे अनामिका की कविता की स्त्री कहती है-“इतना आसान नहीं हैं मरना भी।/पंखों पर धूल जमी है जैसे सदियों की/फंदा लगा लूँ कि पहले पोछूँ मैं यह धूल पंखे की/आँचल से?”

आज की आधुनिक नारी में चेतना जाग गई है अपने ऊपर होने वाले जुल्मों का विरोध करने की शक्ति उसमें उठी है वह अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व को सिद्ध करना चाहती

है। सुधा अरोड़ा की कविता- ‘शतरंज के मोहरे’ में स्त्री कहती है- “इक्कीसवीं सदी की यह औरत/हाड़ मांस की नहीं रह जाती,/इस्पात में ढल जाती है/और समाज का, सदियों पुराना/शोषण का इतिहास बदल डालती है।”

आदिवासी परिवार में जन्मी निर्मला पुतुल अपने समाज की स्त्री पीड़ा, दर्द, व्यथा को अपनी कविता में व्यक्त करती है एक आदिवासी लड़की शहरी वातावरण में ब्याहने से इंकार करती हुई कह रही है-(क्योंकि शहरी लोग इनके कालेपन से, अनपढ़ होने से घृणा एवं उनकी भाषा पर व्यंग्य करते हैं, अस्पृश्यता की दृष्टि से देखते हैं।) बापू! मुझे इतनी दूर मत ब्याहना/वहाँ मुझे मिलने आने की खातिर/घर की बकरियाँ बेचनी पड़े तुम्हें।”

स्त्री होने पर तो वह पीड़ित होती ही है साथ ही दलित होने पर दोहरे दुख को झेलती है। रजनी तिलक अपनी कविता ‘औरत में अंतर’ में कहती है- “एक सताई जाती है स्त्री होने के कारण,/दूसरी सताई जाती है स्त्री और दलित होने के कारण,/एक तड़पती है सम्मान के लिए दूसरी तिरस्कृत है भूख और अपमान से”

नई सदी की स्त्री उन सारे स्थानों पर अपनी उपस्थिति दर्ज करना चाहती है जहाँ वह नहीं थी या छल कपट से उसे बाहर रखा गया था। गगन गिल की ‘एक दिन लौटेगी लड़की’ कविता में यही संकेत है-बदला लिया इस तरह उसने/उसके भीतर के पिता से, प्रेमी से/दोस्तबाज दारूखोर से/बदला लिया इस तरह उसने उसके/मन के हर कोने से, जहाँ वह नहीं थी।

स्त्री मुक्ति की कामना सविता सिंह की कविता में किसकी औरत हूँ में तीव्रता के साथ उभर कर आयी है। आज की स्त्री अपनी पहचान अस्तित्व बनाना चाहती है। वह पुरुष प्रधान समाज को चुनौती देते हुए कहती हैं-मैं किसी की औरत नहीं हूँ/मैं अपनी औरत हूँ, अपना खाती हूँ/मैं किसी की मार नहीं सहती/और मेरा परमेश्वर कोई नहीं।

नई सदी की स्त्री शिक्षित है। इंदु जैन की कविता ‘ये लड़की कहती है औरते’ में यह कविता देखिए है- गणित पढ़ती है ये लड़की/हिंदी में विवाद करती है/अंग्रेजी लिखती/गलत बात पर/तन कर अड़ती खुले दिमाग लिए/जिंदगी से निकलती है ये लड़की।

पूनम तुषामड दलित शोषित नारियों में चेतना जगाते हुए ‘माँ मुझे मत दो’ कविता में कहती हैं- “बीनकर घर घर से कूड़ा/मांग कर लाई जो रोटी/माँ मुझे मत दो।/माँगने से हक नहीं सबको मिला है/छीन लो गर छीनने का हौंसला है।”

शेष भाग पृ. 36 पर

हिन्दी भाषा शिक्षण में मल्टीमीडिया की भूमिका

डॉ. मीनू अवस्थी

भारत एक बहुभाषी देश है जहाँ हिन्दी सबसे अधिक बोली, समझी और लिखी जाती है। हिन्दी का अन्य भाषियों के साथ 'सम्पर्क' का सम्बन्ध है इसलिए इसे 'सम्पर्क भाषा' भी कहा जाता है। सूचना प्रौद्योगिकी से वर्तमान प्रभावित है। इस प्रभावीकरण ने एक संचार भाषा को जन्म दिया है। आज संचार भाषा के रूप में हिन्दी विकसित हो रही है। इस संचार भाषा हिन्दी के शिक्षण से वैश्विक स्तर पर भारतीय संस्कृति फल-फूल रही है। अहिन्दी भाषियों के शिक्षण में मल्टीमीडिया की मदद से उन्हें सहजता से हिन्दी समझ में आने लगती है। मल्टीमीडिया उच्चारण, वाक्य निर्माण, व्याकरण-शिक्षण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। "भाषा शिक्षण के क्षेत्र में कम्प्यूटर की मल्टीमीडिया टैक्नॉलॉजी और वेब टैक्नॉलॉजी का भरपूर फायदा उठाया जा रहा है। कम्प्यूटर पैकेज तथा वेब में ऑडियो-वीडियो इंटरफेस के जरिए छात्र शब्दों और वाक्यों का अनुतान सहित मानक उच्चारण सुन सकता है और वीडियो पाठों में उन्हें बोलता हुआ देख सकता है, क्योंकि हर मूल पाठ के साथ उससे जुड़ा चलचित्र या वीडियो क्लिप उपलब्ध रहता है। वीडियो के बोले गये अंश पाठ में स्वतः अलग रंग में अंकित हो जाते हैं जिससे छात्र बोले गए और लिखित अंशों के बीच मिलान कर सकता है।" मल्टीमीडिया ने दस्तक दी है इसी कारण अब हमारी कक्षाएँ 'स्मार्ट क्लास' के रूप में परिवर्तित हो रही हैं। इस समय शैक्षणिक बदलाव की यह माँग भी है ताकि कक्षा में रोचकता बनी रहे और विद्यार्थियों के सामने उनका विषय विविध रूपों में प्रकट होकर आ सके। ये कार्य 'मल्टीमीडिया' के माध्यम से आसानी से किया जा सकता है। "हिन्दी शिक्षण में मल्टीमीडिया की इलेक्ट्रॉनिक अनुप्रयोगों और प्रक्रियाओं में वेब-आधारित शिक्षा, कम्प्यूटर आधारित शिक्षा, कोष निर्माण, आभासी कक्षाएँ और डिजिटल युक्तियाँ सम्मिलित हैं। इसमें इण्टरनेट, आडियो टेप, उपग्रह टी.वी. और सी.डी. के माध्यम से पाठ्य सामग्रियों

का वितरण किया जाता है।"

आज कम्प्यूटर का हिन्दी से गहरा नाता बन चुका है "वह मशीन साधित अनुवाद करता है, वर्तनी का सुधार करता है, सही शब्द सुझाता है, व्याकरण-विधान करता है, उच्चारण-अभ्यास कराता है, भिन्न-भिन्न रंग-रूपों में मुद्रण करता है और हमारे मौखिक तथा लिखित संदेशों का दूरप्रेषण करता है।" हिन्दी की समृद्धि व प्रसार के लिए भारत सरकार ने कई संस्थाओं को स्थापित किया है जिनके ऊपर हिन्दी की नई वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली तथा शिक्षण-सामग्री का विकास करने का दायित्व सौंपा गया है। इन संस्थाओं में केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, हिन्दी निदेशालय, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, भारतीय भाषा संस्थान, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय प्रमुख हैं। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के पठन-पाठन के लिए केन्द्रीय हिन्दी संस्थान द्वारा महत्वपूर्ण शिक्षण-सामग्री प्रकाशित भी की गई है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी को पढ़ाने में मल्टीमीडिया की विशेष सहायता प्राप्त हो जाती है। प्रयोजनमूलक हिन्दी का अर्थ है ऐसी विशेष हिन्दी, जिसका उपयोग किसी विशेष प्रयोजन के लिए किया जाए। इसको कामकाजी हिन्दी भी कहा गया है। डॉ. नगेन्द्र का मत है कि "प्रयोजनमूलक हिन्दी के विपरीत 'आनन्दमूलक' हिन्दी है। आनन्द व्यक्ति सापेक्ष है और प्रयोजन समाज सापेक्ष। आनन्द स्वकेन्द्रित होता है और प्रयोजन समाज सापेक्ष। "प्रयोजनमूलक हिन्दी के ये विविध रूप ही उसके विविध प्रयोग-क्षेत्रों की ओर संकेत करते हैं। प्रयोजनमूलक हिन्दी केन्द्र व राज्य शासन के पत्र व्यवहार, विधानमण्डल की कार्यवाही, संसदीय विधियाँ, कार्यालयी पत्राचार, सरकारी संकल्पों, अधिसूचना, प्रेस विज्ञप्तियों, आयोग समितियों अभिकरण, निविदा, लाइसेंस, परमिट, वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली, विधि, बैंकिंग, रेल तथा डाकघर आदि में प्रयुक्त

होती है।”³

इंटरनेट (अन्तर जाल स्थलों) पर हिन्दी सम्बन्धित ऐसे संसाधन उपलब्ध हैं जिनके माध्यम से हिन्दी भाषा और लिपि सम्बन्धी अपेक्षित कार्य कर सकते हैं, जैसे-पाठ्य सामग्री में लुप्त शब्द की संदर्भ से खोज, पाठ्य सामग्री का सार संक्षेप, शब्दानुवाद, अंग्रेज़ी जाल पृष्ठों पर उपलब्ध सामग्री अंश का अनुवाद, वेब सॉफ्टवेयर का रूपान्तरण, ऑनलाइन लेखन, उच्चारण शिक्षा, हिन्दी अध्ययन-अध्यापन के संसाधन (पावर प्वाइंट प्रोजेक्शन, स्लाइड्स, ग्राफिक्स आदि), ई-मेल, चैट, ब्लॉग, ट्विटर आदि सोशल नेटवर्किंग के माध्यम एवं साधन, मोबाइल, कम्प्यूटरिंग (मोबाइल पर इंटरनेट, वीडियो, छायाचित्र चित्रण, संगीत, संदेश प्रेषण आदि)⁴ हिन्दी के सूचना, शिक्षा और भाषा प्रौद्योगिकी के अनुरूप इस बीच अनेक यंत्रों को आत्मसात् किया है। चूँकि उसके पास देवनागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि है, जिसमें सभी प्रकार की मानवीय ध्वनियों से सम्बन्धित लिपि-चिह्न है और जो कम्प्यूटर के सर्वाधिक उपयुक्त है। ई-लर्निंग में हिन्दी के अन्तर्गत अहिन्दी भाषियों, विदेशियों के लिए, प्रौढ़ नवसाक्षरों के लिए भाषा-शिक्षण के कई पाठ्य-ग्रन्थ, सॉफ्टवेयर और श्रव्य-दृश्य सी.डी. आदि हिन्दी में बनाये गये हैं। रेडियो, टी. वी. से भी भाषा शिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं लेकिन इस संदर्भ में आवश्यकता इस बात की है कि पाठक-वर्ग, भाषा मनोभाषिकी और भाषा से सम्बद्ध यांत्रिक उपकरणों की समुचित जानकारी देकर इस शिक्षण-कला को प्रौद्योगिकी के रूप में गठित करके कार्यान्वित किया जाए।⁵

ई-लर्निंग के संदर्भ में पवन दुग्गल जो साइबर विशेषज्ञ हैं वो अपने ‘लैब शिक्षा का नया आकाश’ में लिखते हैं “आईपैड और टेबलेट पर छात्रों की शिक्षा के नए आयाम नज़र आयेंगे। इंटरनेट ज्ञान का सागर है। टेबलेट के माध्यम से छात्र इंटरनेट पर ज्ञान और सूचना के समृद्ध स्रोत तक आसानी से पहुँच बना सकते हैं। यही नहीं टेबलेट और आईपैड के अधिकाधिक इस्तेमाल से स्कूल अधिक क्रियात्मक और रचनात्मक बन जायेंगे।” होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र (टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान) मुंबई ने स्कूल तथा कॉलेज स्तर तक के हिन्दी माध्यम के शिक्षार्थियों और अध्यापकों के लिए हिन्दी में स्वतंत्र ई-लर्निंग पोर्टल। (<http://ehindi.hlcese.tifr.res.in>) इस प्रकार वेबसाइट्स पर हिन्दी का प्रयोग बढ़ जाने से हिन्दी भाषा और लिपि का प्रयोग-विधि साधन, अनुवाद, संपादन, लिप्यांतरण, भाषा सीखने सम्बन्धी पाठ्यक्रम, टंकण सम्बन्धी वेबसाइट्स विपुल मात्रा

में नित्य प्रकाशित और विकसित हो रही है।⁶

ई-लर्निंग, नई पठन-पाठन प्रविधि है इसके प्रयोग से कम्प्यूटर, टी.वी. प्रोजेक्टर, वीडियो, स्टिल कैमरा, टेपरिकार्डर, चित्र, चार्ट आदि का प्रयोग होने से विद्यार्थियों का ध्यानाकर्षण बढ़ जाता है। हिन्दी कक्षाध्यापन इसके प्रयोग से लोकप्रिय हो सकता है। ई-लर्निंग में विषय के अनुरूप कुछ दृश्य स्क्रीन पर दिखाये जाएं जैसे-‘कामायनी’ में वर्णित त्रिपुर रहस्य का पूर्वाभास कराने हेतु अंतरिक्ष के दृश्य दिखाकर उनकी ब्रह्माण्डपरक भौतिक विज्ञान युक्त विवेचना की जाए। साहित्य में बहुवर्णित किन्तु दुर्लभ वनस्पतियों तथा जीव-जन्तुओं के चित्र प्रदर्शित किये जाए वृत्तचित्रों का प्रदर्शन दिखाने से विषय की ग्रहणशीलता में वृद्धि होती है। लोकगीतों, लोकधुनों, लोकनृत्यों, नाट्यों की प्रस्तुतियाँ टी.वी. या वृत्तचित्रों के माध्यम से यदि साहित्य की कक्षा में हो तो उनका उपयोग लाभकारी होगा।

हिन्दी वेब साहित्य की पुस्तक में ई-लर्निंग में वेबसाइट्स से क्या लाभ मिल सकते हैं उसके विषय में लिखा गया है। जैसे-हिन्दी अध्यापन में नवतंत्र ज्ञान का प्रयोग कर दूरशिक्षा (Distant Education), दृक-श्रव्य शिक्षा (Video Education) आभासी कक्षा (Virtual Education) दे सकते हैं। भाषा के उद्गम, विकास, अंत, परिवर्तन आदि की ऐतिहासिक सांस्कृतिक जानकारी विभिन्न वेबसाइट्स के जरिए हम हासिल कर सकते हैं। साहित्य के समकालीन रूप का अद्यतन पठन-पाठन ऐसे वेबसाइट्स से संभव होता है। ई-रीडिंग की सुविधा से दुनिया भर का साहित्य पल भर में हासिल कर सकते हैं। साहित्य की नई विधाओं का ज्ञान होता है। जैसे मोबाइल नॉवेल। साहित्य की विभिन्न विधाओं के अन्य भाषी विकास और तरक्की को जान सकते हैं। ब्लॉग, ट्वीटर, ई-मेल, वीडियो कॉन्फरेसिंग, चैट आदि के जरिए साहित्यकारों से संपर्क हुआ है और कर भी सकते हैं। साहित्य का प्रचार-प्रसार गति से होता है।⁷

इस प्रकार हिन्दी में ई-लर्निंग द्वारा नई शिक्षण प्रविधि के सहारे विषय के श्रव्य-दृश्यात्मक बनाकर ज्यादा संप्रेषणशील रोचक तथा सुग्राह्य बनाया जा सकता है। हिन्दी के साथ मल्टीमीडिया का चलना हिन्दी के रोजगार के साथ भी जुड़ा हुआ है इसलिए इसको हमें अपनाना होगा। इस प्रकार मल्टीमीडिया के माध्यम से हिन्दी भाषा शिक्षण का सूचना प्रौद्योगिकी के साथ यह गठबंधन उसे विकास की नई ऊँचाईयों पर ले जायेगा।

शेष पृ. 53 पर.....

स्कंदगुप्त में राष्ट्रीय विमर्श के प्रश्न

जय प्रकाश पाण्डेय

1928 का दौर वह दौर है जब भारतीय स्वाधीनता संग्राम अपने उफान पर है। राष्ट्रीय आन्दोलन के इस दौर को गाँधी युग के रूप में देखा जाता है। गाँधीजी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय चेतना असहयोग आन्दोलन से होते हुए सविनय अवज्ञा तक पहुँच जाती है। असहयोग आन्दोलन के वापसी से आगे बढ़कर कांग्रेस के मंच से अब पूर्ण स्वाधीनता की माँग उठने लगती है। यह दौर भारत को मुक्त कराने की राष्ट्रीय चेतना का दौर था। ऐसे में कोई सजग रचनाकार अपने को इस चेतना से कैसे दूर रख सकता था। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं-प्रसाद के तीन नाटक चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त और ध्रुवस्वामिनी ऐतिहासिक होते हुए भी समसामयिक हैं। इन सारे चरित्रों के माध्यम से हम 1926 से 1933 तक के भारतवर्ष का सम्पूर्ण स्वरूप देखते हैं। स्कंदगुप्त नाटक में हमें राष्ट्रीय चेतना के विविध स्तर दिखाई देते हैं। तत्कालीन घटनाचक्रों को अपने वर्तमान कालीन परिवेश से संयुक्त करते हुए प्रसाद ने उन्हें स्कंदगुप्त के मानस का अनिवार्य अंग बना दिया है।

पहले से लेकर पाँचवें अंक तक सभी पात्र राष्ट्रीय चेतना की ही अभिव्यक्ति करते हैं। गीतों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति को भी हम इस नाटक में देख सकते हैं। राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रसाद शुरु से ही स्वत्व की लड़ाई, अन्याय-अत्याचार का विरोध करने, अकर्मण्यता त्यागकर संघर्ष करने के लिए कर्म दर्शन का पाठ पढ़ाते चलते हैं। जयशंकर प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना साम्राज्यवाद में नहीं परिवर्तित होती। वह मानवतावाद में परिवर्तित होती है। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना का यह संचार करती है। यह गौरव का भाव ही हमें एक दुसरे से जोड़ता है। इस नाटक में स्कंदगुप्त, देवसेना सभी के सभी राष्ट्र प्रेमी पात्र हैं।” हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दें उपहार युद्धभूमि में मात्र गुप्त द्वारा गाये गए संबोधन गीत में राष्ट्रीय चेतना

की सहज अभिव्यक्ति हुई है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रसाद जी की राष्ट्रीयता अंधराष्ट्रीयता या परपीड़क राष्ट्रीयता नहीं है। इसमें विश्व बंधुत्व का भाव है। मानवतावाद इसके मूल में है। उनके सभी नाटकों के नायक अपनी शक्ति का प्रयोग परमार्थ के लिए करते हैं। जनकल्याण के लिए करते हैं। कामायनी में तो वो सीधे कहते हैं-विजयनी मानवता हो जाये।

सामान्यतः यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि कुछ लोग अपने से विकसित राष्ट्र का अँधा अनुकरण करते हैं। उन्हें अपनी पहचान और अपने राष्ट्र के प्रति हीनता का भाव रहता है। प्रसाद जी ऐसे नकलची लोगों और उधार की संस्कृति के पीछे दौड़ लगाने वाले लोगों की जमकर खैर लेते हैं। नाटक में एक सैनिक भटार्क से कहता है- यवनों से उधार ली गयी सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी तरह पड़ी है जैसे कुलवधु को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में।

गुलाम भारतीय जनता के राष्ट्रीय स्वाभिमान को खड़ा करने का प्रसाद जी का अनूठा प्रयास है। विदेशी पात्रों से भारत के प्रशंसा करवाकर मनोवैज्ञानिक स्तर पर भारतीय के स्वाभिमान को दुबारा जागृत करने का प्रयास करते हैं। श्रीलंका का युवराज धातुसेन कहता है- भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुंधरा इसके प्रेम पाश से आबाद है अनादिकाल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकिरण कर रहा है। वसुंधरा का हृदय भारत किस मूर्ख को प्यारा नहीं है।

जयशंकर प्रसाद के इस नाटक में हमें राष्ट्र के प्रति त्याग और बलिदान की भावना भी देखने को मिलती है। देवसेना बन्धुवर्मा स्कंदगुप्त सभी पात्रों में त्याग की भावना देखी जा सकती है। स्कंदगुप्त तो अपने जीवन का उद्देश्य ही इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाना मानता है। इसके लिए सत्ता को वह अधिकार नहीं एक कर्तव्य समझता है। “यदि कोई साथी

न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं जन्मभूमि के उत्तरार्ध हेतु अकेला युद्ध करूँगा।” प्रसाद का ऐसा राष्ट्रप्रेम देवसेना के देश हित में अपने प्रेम को बलिदान कर देने तक के सफर में हमें ले चलता है। जब उसे लगता है कि स्कंदगुप्त कर्तव्य पथ से विचलित हो रहा है उसका प्रेम स्कन्द को अकर्मण्य बना रहा है तो वह उस प्रेम का त्याग कर देती है। बन्धुवर्मा भी देशहित मेंका त्याग करता है। मात्र गुप्त का गीत भी त्याग की भावना से ओतप्रोत है- “जिए तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे, यह हर्ष न्योछावर कर दे हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।”

इस नाटक में प्रसाद जी तत्कालीन भारत की दुरावस्था की पहचान करके पहले तो पीड़ा या वेदना का भाव महसूस करते हैं। इसके बाद समस्या के कारणों व उसके समाधान पर अपनी नज़र ले जाते हैं। स्कंदगुप्त के निम्नलिखित कथन में यह पीड़ा साफ-साफ दिख जाती है-आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों से देखना था। देवसेना का गीत हो कि- “देश की दुर्दशा निहारोगे, डूबते को कभी उबारोगे” तो वही मात्रगुप्त का गीत- “उतारोगे अब कब भू-भार, बार-बार क्यों कह रक्खा था, लूँगा में अवतार।”

भारत की दुर्दशा के कारणों पर भी प्रसाद जी प्रकाश डालते हैं। वाह्य कारणों के रूप में हूण आक्रमण तो आंतरिक कारणों के रूप में गृहकलह, परगुप्त, अनन्देवी, प्रपंचबुद्धि, भट्टर जैसे लोग देश को तोड़ने में जुटे हैं। ये स्वार्थों के पुलंदे हैं। इनके खिलाफ भी स्कंदगुप्त को संघर्ष करना पड़ता है। देश को कमजोर करने वाली कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं जिसपर प्रसाद जी अपनी दृष्टि ले जाते हैं।

स्कंदगुप्त कालीन भारत में साम्प्रदायिकता उस रूप में नहीं देखी जा सकती थी जिस रूप में वह 1928 के भारत में मौजूद थी। फिर भी रचनाकार हिन्दू बौद्ध संघर्ष के माध्यम से हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता की सुगबुगाहट को पकड़ने में सफल रहता है।

जयनाथ नलिन लिखते हैं- स्कंदगुप्त में चौत्य के पास जो बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष है, वह नाटकीय आवश्यकताओं को उतना पूरा नहीं करता, जितना हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों का रूप सामने रखता है।

लेकिन ऐसा प्रबल ज्वाला को भी भुजाने के लिए समाधान भी इस नाटक में दिया गया है। वह दार्शनिक व भावात्मक स्तर पर दोनों का समन्वय करता है। धातुसेन का कथन- अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम से विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया जा सकता। यदि वैसा करते

तो इतनी करुण की आवश्यकता क्या थी ? दार्शनिक स्तर पर समन्वय का कथन है और प्रख्यात्कीर्ती का कथन - हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखा हैं। आओ हम दोनों के विचार के फूलों से दुःख, दग्ध, मानवों के कठोर पथ कोमल करें भावनात्मक समन्वय का प्रयास है।

प्रसाद जी जैसे तो शान्ति को महत्त्व देने वाले रचनाकार हैं। स्कंदगुप्त में वो प्रायः शान्ति की वकालत करते ही दिखाई देते हैं किन्तु इस नाटक में सीमित स्तर पर हिंसा की स्वीकृति भी दिखाई देती है। जयमाला का कथन की युद्ध क्या गान नहीं है? इस बात को पुष्ट करता है। संभवतः इसके पीछे असहयोग आन्दोलन के बाद की परिस्थितियों की भूमिका है।

प्रसाद जी आदर्श राष्ट्र के मूल्यों को भी विस्तार से वर्णित करते हैं। उनका मानना है कि सत्ता का प्रयोग कल्याण में होना चाहिए। वे एक ऐसे राष्ट्र की भी कल्पना करते हैं जो भय व भूख से मुक्त है। जहाँ सभी वर्ग समान है। संभवतः इस विचारधारा पर तत्कालीन समाजवादी आन्दोलन का गहरा प्रभाव है।

स्कंदगुप्त के फलक पर प्रसाद भारतवर्ष के शाश्वत मूल्यों को समुचित स्थान देकर भारत की पूरी आकृति तैयार करते हैं। नाटक में कई चरित्र ऐसे हैं जो बहुत कम वाक्यों में राष्ट्रीयता की परिभाषा को पाठक के हृदय में अंकित कर जाते हैं।

स्वतंत्रता आन्दोलन में गाँधीजी के आने के बाद महिलाओं का जिस सक्रियता से संघर्ष में अहम् योगदान था उसी का ही रूप स्कंदगुप्त के नारी चरित्रों द्वारा हमें देखने को मिलता है। जयमाला का कथन है-....वीर बढ़ो गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान आगे पीछे , सर्वत्र आलोक और उज्वलता रहे।

प्रसाद जी का राष्ट्र विमर्श देश की भौगोलिक सीमाओं से परे है। इसमें मानवता का प्रश्न हमेशा ज्वलंत रहता है। उनके चरित्र स्वयं की लालसा व भावना को पीछे रखकर राष्ट्र हित व सामाजिक सौहार्द का प्रश्न उठाते हैं। आज कुछ राष्ट्रों की वीरता उन्माद का पर्याय बन गयी है। ड्रोन एवं क्लस्टर बमों के हमले के उन्माद में न्याय का प्रश्न एक छलावा बनकर रह गया है। स्कंदगुप्त में इस तस्वीर की एक बानगी प्रस्तुत की गयी है जब गोविन्द कहता हैवीरता उन्माद नहीं है- आंधी नहीं है जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। उसकी मजबूत भित्ति है न्याय, तू उसे कुचलने पर सर ऊँचा उठाकर नहीं रह सकता।

इसमें सैनिक जैसा एक छोटा-सा किरदार भी है लेकिन उसकी संवेदनाएँ आम आदमी की हैं जिस पाशा ब्यंग्य है। यह राष्ट्र का विपदाकाल है। युद्ध की आयोजनों के बदले हम अपलकों का समारोह देख रहे हैं। यह शाश्वत चिंता को व्यक्त करता है, जिसके गूढ़ निहितार्थ हैं।

तत्कालीन समय में राष्ट्र के भीतर भी धर्मगुप्त व जातिगत भेदभावों का प्रबल बोलबाला रहा है। प्रसाद जी यह बताने में सफल रहे हैं की धर्म के विविध कैम्पों के बीच भी समन्वय की राह व परस्पर साथ रहने की अलख जगाई जा सकती है। प्रसाद जी ने विभिन्न चरित्रों के मनोभावों को उजागर कर भारतीय राष्ट्रीयता के विभिन्न रंग और दर्शनों को पिरो कर सामने रखा है। प्रसाद जी के ये पात्र जहाँ एक तरफ राष्ट्रीय चेतना का उद्बोधन देते दिखते हैं तो वही अनंतदेवी, पुरगुप्त, भट्टार्क जैसे स्वार्थ वृत्ति व विलासप्रिय लोगों पर ब्यंग्य भी करते दिखते हैं।

सहायक ग्रंथ-

1. प्रसाद का जीवन दर्शन, कला और कृतित्व, (सं.) प्रो. मोहनलाल, पृ. 133-134
2. पाश्चात्य नाट्य दृष्टि और प्रसाद के नाटक, डॉ. दिनेश कुमार गुप्त (ईशाज्ञानदीप प्रकाशन)
3. प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय भावना- डॉ. विद्या खण्डेलवाल (भारत बुक डिपो)
4. जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों का अनुशीलन, माधुरी वाजपेयी
5. प्रसाद के नाटक सर्जनात्मक धरातल और भाषिक चेतना, गोविन्द चातक
6. प्रसाद साहित्य की अन्तश्चेतना, प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित, नचिकेता प्रकाशन
7. प्रसाद के नाटक स्वरूप और संरचना, डॉ. गोविन्द चातक, साहित्य भारती, दिल्ली

शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पृ. 67 का शेष भाग.....

उन्होंने भी अधिक योग नहीं दिया। नये पंथों के प्रवर्तन से पाखण्ड और आडम्बर के प्रसार में ही वृद्धि हुई थी तथा धर्म एवं ज्ञान को व्यापार का माध्यम बना लिया गया था। धर्म प्रवर्तक केवल व्यापार के उद्देश्य से ही शिष्य परम्परा में ही वृद्धि करते थे और धर्म के मूल केवल गाँवों के बिना पढ़े-लिखे वे लोग ही किया करते थे और विवकेशील व्यक्तियों के लिए ज्ञानोपदेशक कोई शेष नहीं रहा था। अक्षर अनन्य को युग की यह विडम्बना अच्छी न लगी, अतएव उन्होंने आलोचना प्रणाली को छोड़कर मूल तत्त्वों और सिद्धान्तों के विवेचन एवं उनकी सामान्य व्यक्ति तक पहुँचाने का ही अधिक प्रयास किया।

संदर्भ-

1. कबीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987, पृ. 129-131
2. अक्षर अनन्य (भूमिका) आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, शासन साहित्य परिषद-भोपाल, 1969, पृ. 12
3. अक्षर अनन्य (जीवनी-साधना) आचार्य अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, शासन साहित्य परिषद-भोपाल, जुलाई 1969, पृ. 13-14

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

बुन्देली लोक संगीत

डॉ. सीमा रायकवार

लोक साहित्य में कथाओं, गाथाओं, स्वांग, नाट्य सुभाषित आदि की तुलना में लोक काव्य विशेषकर गीत-संगीत आदि प्रसिद्ध रहे हैं ये मौखिक परम्परा से भी आये हैं। आज भी सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में लोकगीत संगीत की महफिलें जमती है जिसमें विभिन्न संस्कारों से लेकर विभिन्न ऋतुओं के श्रृंगार, गीत, त्यौहारों के गीत, इष्ट देवी या देवताओं के गीत प्रमुखता से सुने व गाये जाते हैं।

वास्तव में गीत जीवन के उन चरणों का परिचायक हैं जिनमें मनुष्य कुछ काल के लिए देशकाल को विस्तृत कर जाता है और अपनी आन्तरिक भावनाओं के विनिमय में लीन हो जाता है। इस प्रकार अनेक अवसरों पर व्यक्ति अपने मन के भावों की अभिव्यक्ति करता है और मानसिक संतोष प्राप्त करता है। व्यक्ति यदि एक से अनेक है तो सामूहिक रूप में इन्हीं गीतों के माध्यम से परितोष तो पाते ही हैं साथ ही दर्शकों को अपने विभिन्न अभिनयों, नृत्यों के द्वारा अमित तोष देते हैं। विभिन्न ऋतुओं में अनेक प्रकार के गीतों की व्यवस्था बुन्देलखण्ड में चिरकाल से है। ऋतु विशेष के आने पर, उत्सव विशेष के आयोजित होने पर अथवा सुखात्मक घटना घटित होने पर समयोचित गीतों का गायन व नृत्य ये ग्रामीण करते हैं तथा प्रफुल्लता, हर्ष एवं उन्माद की घड़ी में सब कुछ भूल जाते हैं। लोकगीतों में यही भारतीय जनजीवन अपनी समग्र यथार्थता के साथ संस्कृति की अभिव्यक्ति करता है। अतः हम कह सकते हैं कि लोकगीत हमारी संस्कृति के परिचायक हैं।

बुन्देली लोक गीतों को मोटे तौर पर चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वे गीत हैं जो श्रम करते समय मनोरंजन हेतु गाए जाते हैं जैसे कुँआर के महीने में बोनी प्रारंभ होती है। वर्षा काल और शीतकाल का यह मिलाप है। यह काल स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम काल माना गया है। इस विषय में एक बुन्देलखण्डी कहावत भी है। यथा- सावन

व्यालू जब तक कीजे, भादौ बाको नाम न लीजे। कुँआर मास के दौ पखवारे, जतन-जतन से रहियो प्यारे। आई दिवारी, भर-भर पेट करो वियारी।

श्रम के साथ गाये जाने वाले गीत बिना वाद्य के गाये जाते हैं जैसे बऊनी के समय जो गीत गाया जाता है उसे 'अन बौलना' कहते हैं। 'बऊनी' के बाद 'कटाई' के समय गाये जाने वाले गीतों को 'बिलवारी' कहा जाता है। इस प्रकार के श्रम के प्रत्येक कार्य के साथ गीतों का संबंध जुड़ा हुआ रहता है।

दूसरे प्रकार के गीत वे हैं जिन्हें अवकाश के समय गाया जाता है। खेती में बीच-बीच में अवकाश का समय मिलता है जिसमें श्रमिक व किसान आराम का अनुभव करते हैं। इस अवकाश के समय वह मनोरंजन के रूप में नृत्य और संगीत का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार के लोक गीतों में फाग, राई सैरा, होली जस आदि का समावेश किया जा सकता है। तीसरे प्रकार के लोक-गीत वे हैं जो कि सामाजिक उत्सवों के समय धार्मिक परम्परा के रूप में व्यवहार में आते हैं इस प्रकार के लोक गीतों में बनरा, बधाई, ढाक, विवाह गीत-ढिमरयाई आदि लोक गीत सम्मिलित किये जा सकते हैं। एक बनरा गीत की कुछ पंक्तियाँ देखें- "इन सजनों में ठग लव री/मोरो राई भरो बनरा/मुतियां दे समजा लव री/मोरो राई भरो बनरा/मोजा दे समजा लव री/मोरो राई भरो बनरा"

बनरा की तरह ही विवाह गीतों में गारी गीतों का भी प्रमुख स्थान है। एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखें- "जा रही रंगीली बाँसुरी जा बाजत काय नईया, आजरा दरू बाजरा फटकूँ मोरे मन ऐसी आई के/समदी खो उठा-उठा पटकूँ/दे दे दचकूँ/एक बार दो बार/साड़े तीन बार/जा रही रंगीली बांसरी बाजात कार्य नईयां, आजरा दरू बाजरा फटकूँ, मोरे मन ऐसी आई के दूल्हा के .../उठा-उठा पटकूँ/देदे दचकूँ/एक बार दो बार/साड़े तीन बार हो राजा के इनयां"

बुन्देलखण्ड में गारी गीतों की यही विशेषता है कि प्रेम से सने ये गीत दूल्हा पक्ष को बुरे नहीं लगते बल्कि दोनों पक्ष इन गीतों का आनंद लेते हैं।

बुन्देलखण्ड में तो विवाह समारोह मानो गीत-संगीत का दूसरा रूप ही हो। विवाह की रस्मों के प्रारम्भ होते ही गीतों की मानो झड़ी लग जाती है जैसे मटयाने के गीत, बनरा गीत, गारी गीत, मड़दावरी का गीत, मंडवा गीत, मेहर के पानी का गीत, वरमाला के गीत, देवता खो न्योते गीत, बीदें मेहर गीत, तेल चढ़ाने का गीत, हरदी चढ़ाने का गीत, राछ गीत, बाबा गीत, उबना गीत, टीका की गारी, चढ़ाव गीत, भौंवर गीत, पाँव पखारने का गीत, कुअर कलेऊ गीत, रहस बछाये का गीत, गारी जेबनार, गारी कंकन छूटने का गीत, विदा गीत, दादरे, इसी तरह अन्य षोडश संस्कार जैसे गर्भाधान, कर्ण भेदन, विद्या आरम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशांत समावर्तन, पुसंवन, जात कर्म, नामकरण, अन्न प्रासन, समावर्तन, अन्त्येष्टि आदि पर भी बुन्देली परम्परा में गीतों का महत्त्व है।

एक अनरय गीत का उदाहरण देखिये- “मुखड़ा क्या निरखे दरपन में/ऐई गाँव के बाग घनेरे/बास वही फुलवन में/एक दिन ऐसो आहे प्यारे/ढोर चरें ऐई वन में/लाल पाग केसरिया झामा/सोहे गोरे तन में/एक दिन ऐसों आहे प्यारे/राख उड़े ऐ जग में/ऐड़ी टेडी पगडी बांधे/तेल डरो जुलफन में /कहे कबीर सुनो भई साधु/जे का लड़ हे रन में”

अब चौथे प्रकार के वे लोकगीत हैं जिन्हें गाँव के बाहर के लोग समय-समय पर आकर सुनाया करते हैं। इन गीतों का प्रयोग भिक्षावृत्ति के समय किया जाता है जैसे बसदेवा के गीत, नौना चमारी के गीत आदि। ये गीत धर्म उपदेश के साथ मनुष्य के नश्वर होने तथा जगत के परिवर्तनशील रूप का परिचय देते हैं।

पुरुषों की अपेक्षा बुन्देली लोक गीतों का प्रचार स्त्रियों में अधिक है स्त्रियों से संबंधित कोई भी कार्य बिना गायन के संभव नहीं होता। खासतौर से सामाजिक संस्कारों के समय के गीत स्त्रियों द्वारा ही गाए जाते हैं। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि हमारी सभ्यता संस्कृति, लोकाचार, रीति-रिवाज आदि सभी बातों को ये लोकगीत अपने अन्दर छुपाए हुए हैं। इनमें परम्परागत लोक जीवन का चित्र देखा जा सकता है। परन्तु इस चित्र को समझने के लिए मस्तिष्क से कहीं अधिक हृदय की आवश्यकता है। अनुभव किया जाये तो हम पायेंगे कि शिष्ट साहित्य से कहीं अधिक विकसित पृष्ठभूमि इन बुन्देली लोकगीत-संगीत की है। इनमें वास्तविकता का सहज स्रोत दृष्टिगत होता है। यह हृदय से निकला हुआ सहज और सरल प्रवाहमय उदगार होता है जो कि दूसरों के हृदयों तक बिना परिश्रम के पहुँच जाता है। इसमें दिमाग की कसरत नहीं होती पर रस का संचार अवश्य होता है जिसमें जन जीवन के दर्शन किये जा सकते हैं।

सहायक ग्रंथ-

1. बुन्देली खण्ड के संस्कार गीत, संकलन- सुधीर तिवारी, माधव शुक्ल, मनोज प्रकाशन, मध्यप्रदेश आदिवासी लोक का परिषद, भोपाल प्रकाशन वर्ष 1995 पृ. 32
2. बुन्देली खण्ड के संस्कार गीत, संकलन- सुधीर तिवारी, माधव शुक्ल, मनोज प्रकाशन, मध्यप्रदेश आदिवासी लोक का परिषद, भोपाल प्रकाशन वर्ष 1995 पृ. 35
3. वही, पृ. 105

पृ. 48 का शेष भाग.....

संदर्भ-

1. विश्व बाजार में हिन्दी/महिपाल सिंह, देवेन्द्र मिश्र, पृ. 33
2. प्रयोजन मूलक हिन्दी, प्रो. सूर्य प्रकाश दीक्षित, पृ. 448
3. प्रयोजन मूलक हिन्दी, डॉ. राजनाथ भट्ट, पृ. 2
4. हिन्दी वेब साहित्य, डॉ. सुनील कुमार लवटे, पृ. 67
5. डॉ. सूर्य प्रसाद दीक्षित, पुनश्चर्या कार्यक्रम में भाषा प्रौद्योगिकी विषय पर दिया गया व्याख्यान।
6. हिन्दी वेब साहित्य, पृ. 57
7. वही, पृ. 54

68, अवध विहार कॉलोनी, सीमैप, पिकनिक स्पॉट रोड, लखनऊ-226015

महिला उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श की झलक

दीपमाला कोरी

“जितना सताओगे/उतना उठूँगी/जितना दबाओगे/उतना उगूँगी/जितना बाँधोगे/उतना बहूँगी/जितना बंद करोगे/उतना गाऊँगी/जितना अपमान करोगे/उतनी निडर हो जाऊँगी/जितना प्रेम करोगे/उतनी निखर जाऊँगी”¹

आज भारतीय भाषाओं में ही नहीं बल्कि विश्व साहित्य में भी स्त्री विमर्श पर विचार को रेखांकित किया जा रहा है, क्योंकि नारी अपने अस्तित्व की पहचान के लिए निरन्तर संघर्ष करती चली आ रही है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक वह किसी न किसी रूप में अपने ऊपर होने वाले अत्याचार और अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाती हुई अपने अस्तित्व की रक्षा में लगी हुई है। आधुनिक नारी में यह संघर्षशील प्रवृत्ति या अपने व्यक्तित्व के प्रति सचेत होने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक है। आज भी सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई नारी अपने अधिकारों से अपरिचित है। उपन्यासों के इस नये दौर में नारी के विभिन्न रूपों का चित्रण मिलता है। इनमें परम्परागत और विद्रोही रूप भले ही प्रमुख रहें हो फिर भी सन् साठ के बाद की युगीन परिस्थितियों के कारण नारी जीवन प्रभावित हुआ है। समाज के साथ नारी का रूप भी बदलता गया। साठोत्तर काल में नारी को लेकर एक नयी विचार दृष्टि का विकास हुआ। इस काल की महिला लेखिकाओं उपन्यासों में नारी चेतना का विकास हुआ। अपनी स्थिति से असन्तुष्ट नारी अपने जीवन के नये रूप में ढालने के प्रयास में संघर्षरत है। नारी के विभिन्न रूपों के साथ जीवन और समाज में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका को ध्यान में रखते हुए अनेक उपन्यास लिखे गये जिनमें नारी पक्षपात की ओर स्पष्ट झुकाव दिखाई पड़ता है। परिवार में माँ, बेटी, पत्नी और बहिन के अलावा प्रेमिका, समाजसेविका, नेता, नौकरीपेशा नारी आदि के रूप में उसके संघर्षशील व सफल व्यक्तित्व का चित्रण हुआ है।

सीमोन बोउवार ने अपनी पुस्तक ‘द सैकेण्ड सेक्स’ में पूरी दुनिया की स्त्री को एक मंच पर आने का आह्वान किया-

“स्त्री अमीर हो या गरीब, श्वेत हो या काली, अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी। यह दुनिया पुरुषों ने बनाई पर स्त्री से पूछकर उससे सहारा लेता है और पुनः उसे घर लौट जाने को कहता है। वह सदियों से ठगी गयी है। यदि उसने कुछ स्वतंत्रता हासिल की भी है। तो उतनी ही जितनी कि पुरुष ने अपनी सुविधा के लिए देना चाहा।”²

ये विडम्बना भी देखने लायक है जिस स्त्री के बिना पुरुष इस संसार में अपने अस्तित्व को प्राप्त नहीं कर सकता वहीं पुरुष नियम बनाकर उसी स्त्री को शोषित, प्रताड़ित और बंधित करता है। अपनी जरूरत के लिए उसको उपयोग में लाता है और फिर आवश्यकता न पड़ने पर एक टूटे सामान की तरह उसे फेंक दिया जाता है। पूर्व की उपेक्षा स्त्री की स्थिति में काफी सुधार हो गया है। आज शनैः-शनैः महिलाओं को पुरुषों के जीवन में महत्वपूर्ण प्रभावशाली और अर्थपूर्ण सहयोगी माना जाने लगा है। अब वह अपने फैसले लेने लगी है। दूसरों को भी सलाह देने लगी है। एक ही समय में सब कुछ नहीं मिल सकता इसलिए परिवर्तन की झलक धीरे-धीरे ही दिखाई देती है।

समकालीन उपन्यास साहित्य में महिला उपन्यासकारों ने उपन्यासों के माध्यम से अपनी अस्मिता तथा लेखकीय पहचान स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। ये उपन्यास लेखिकाएँ ज्यादा आक्रामक भाव से स्त्री की अलग अस्मिता, स्त्री की पहचान, स्त्री की शक्ति, स्त्री के संघर्ष एवं स्त्री से जुड़े हुए अनेक प्रश्नों का विश्लेषण अपनी रचनाओं में करती हैं। इन्होंने ‘पुरुष लेखन’ के मुकाबले ‘स्त्री लेखन’ को अधिक प्रभावशाली और असरदार ठहराने की कोशिश भी की है। उपन्यास साहित्य में उन्नीस सौ साठ के बाद का समय महिला रचनाधर्मिता के विस्फोट के रूप में जाना जाता है। इस दौर में स्त्री कथाकारों ने अत्यन्त शक्तिशाली उपन्यास लिखे हैं, जिनमें से बहुतों को ‘कालजयी’ कहा जाए तो असंगत न होगा। इन उपन्यासकारों की रचनाओं ने बीसवीं

शताब्दी के उपन्यास लेखन की निश्चित तस्वीर प्रस्तुत करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

इन महिला लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में स्त्रियों को दुनिया के जिन भीतरी बाहरी तकलीफों और छटपटाहट को अभिव्यक्ति दी है, वैसा इससे पहले न कभी संभव हुआ था और न कभी सोचा ही गया था। स्त्रियाँ ही सम्भवतः स्त्री जीवन के उन भीतरी अंधेरों में जा सकती थीं और ऐसी मार करने वाली भाषा में उनकी यंत्रणाओं और बेड़ियों के बारे में लिख सकती थीं। पुरुष अगर उनके बारे में लिखता तो शायद उसकी भाषा में उतना जोर उतनी कशिश न होती।

स्त्रियाँ जिस तरह घर और बाहर विभिन्न क्षेत्रों में अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रही हैं, उनके उन समस्त अनुभवों का पूरी मार्मिकता के साथ उपन्यासों में प्रस्तुतीकरण हुआ था। इन उपन्यासों में स्त्री संवेदना की एक बनी बनाई लीक को तोड़ने के साथ-साथ नई परम्परा का भी निर्माण हुआ है। ये ऐसे उपन्यास हैं, जिनमें स्त्रियों ने अपने हिस्से के दर्द और मुश्किलों के बारे में खुद लिखा है और पूरी तल्लीन, तेजी और तेवर के साथ। इसमें स्त्री का संघर्ष शील रूप दृष्टिगोचर होता है। अभी तक का महिला लेखन स्त्री के दुखों का बखान था लेकिन इस समय के लेखन में स्त्री के संघर्ष और विद्रोह की कहानी शुरू हो गयी थी, जिसे पुरुष लेखन उतनी साहसिकता प्रमाणिकता और तीखेपन के साथ प्रस्तुत नहीं कर सकता है।

चूँकि “उपन्यास का विषय है व्यक्ति। यह समाज के विरुद्ध प्रकृति के विरुद्ध व्यक्ति के संघर्षों का महाकाव्य है।”³ अतः महिला उपन्यास लेखन में स्त्री जीवन की समस्याओं एवं संघर्षों का व्यापक प्रस्तुतीकरण हुआ है तथा स्त्री मुक्ति चेतना के प्रति नवीन दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया गया है।

कृष्णा सोबती हिन्दी की एक ऐसी सशक्त नारीवादी लेखिका हैं जिन्होंने अपने लेखन में स्त्री की बदलती हुई स्थिति उसकी यातनाओं एवं संघर्षों को स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने उपन्यास लेखन में पूरी प्रमाणिकता संवेदनशीलता एवं साहस के साथ नारी के एकांत संघर्ष यातना और अस्मिता का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। कृष्णा सोबती के उपन्यास ‘मित्रो मरजानी’ में पुराने मूल्यों को जीते हुए मध्यवर्गीय परिवार में एक विस्फोटक युवती की मुँहफट प्रतिक्रियाओं और उथल-पुथल मचा देने वाले आचरण का चित्रण किया गया है। मित्रो एक ऐसी नारी की कहानी है जिसमें यौवन की अमित प्यास है, ढोंग और पाखण्ड वह

नहीं जानती है और न ही उसमें सतियों का-सा बल है, वह बेझिझक कह देती है “सच तो यूँ जेठ जी की दीन दुनिया विस्तार में मनुष्य की जात से हँस खेल लेती हूँ, झूठ यूँ कि खसम का दिया राजपाठ छोड़ मैं कोठे पर तो नहीं जा बैठी।”⁴ इस प्रकार कृष्णा सोबती ने मित्रों के रूप में एक ऐसी नारी हिन्दी साहित्य को दी है जो समर्पित होते हुए भी ग्रहण की आकांक्षा रखती है।

उषा प्रियंवदा का आधुनिक महिला उपन्यासकारों में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है। इनके उपन्यास ‘पचपन खम्भे लाल दीवारें’ में आधुनिक जीवन की ऊब, छटपटाहट, संत्रास और अकेलेपन की अनुभूति के स्वर पर पहचाना और व्यक्त किया है। “यह उपन्यास उनकी इस विशेषता का जीता जागता उदाहरण है। जिसमें एक भारतीय नारी की सामाजिक आर्थिक विवशताओं से जन्मी मानसिक यंत्रणा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।”⁵ इस उपन्यास में नारी के शोषण के नये आयाम का चित्रण हुआ है। नारी का शोषण हर युग में हुआ है, कभी धर्म द्वारा, कभी शास्त्रों द्वारा एवं कभी घर परिवार और समाज द्वारा आज की नारी जहाँ सुशिक्षित होकर आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हुई है वहीं उसे इस आत्म निर्भरता का मूल्य भी चुकाना पड़ रहा है। प्रस्तुत उपन्यास की नायिका सुषमा के माध्यम से लेखिका ने सुशील सुशिक्षित, संवेदनशील, अंतर्मुखी तथा आत्मपीड़क स्त्री के अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

मन्नु भण्डारी हिन्दी साहित्य के क्षितिज पर उभरने वाली छठे दशक की महिला कथाकार है। इनके उपन्यास ‘आपका बंटी’ में पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण भारतीय समाज में बदलते मूल्यों की और उससे उत्पन्न सामाजिक समस्या का वर्णन है। इसमें भारतीय परिवेश में बँधी नारी और उसकी पारिवारिक स्थितियों से प्रभावित बच्चे की मनःस्थितियों का चित्रण बड़ी कुशलता के साथ किया है। शकुन पुनर्विवाह करना चाहती है। लेखिका फूफी के माध्यम से उसके दुष्परिणाम को बताती हुई कहती है “आप तो जानती हैं कि साहब को लेकर हमारे मन में कइसा गुस्ता है। अब आप भी वही सब करेंगे ... साहब ने जो किया तो आप की मट्टी पलीत हुई और अब आप जो कर रही हैं, इस बच्चे की मट्टी पलीत होगी।”⁶ वास्तव में लेखिका ने इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि अहं के कारण जिस घर के लोग लीक छोड़कर चलेंगे उसमें यातना, घुटन और अकेलापन ही है। शकुन पुनर्विवाह करके भी सुखी नहीं रह पाती और दूसरा विवाह कर लेने के पश्चात् भी उसके पास

ऐसा कोई सुख नहीं होता पर ऐसी यातना जरूर है जिसे वह किसी के साथ शेयर नहीं कर सकती। अतः यह उपन्यास शिक्षित स्त्री पुरुषों के अहम् की टकराहट तथा उसके फलस्वरूप सन्तान की दयनीय एवं निस्सहाय अवस्था को मार्मिक एवं हृदय ग्राही रूप में प्रस्तुत करता है।

स्त्री विमर्श की दृष्टि से मृदुला गर्ग द्वारा लिखा उपन्यास 'कठगुलाब' महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह 'सार्वभौम भगिनीवाद' और 'पर्सनल इज पॉलिटिकल' के आदर्श से प्रभावित बड़ी उठान का उपन्यास है। पूरब और पश्चिम दोनों में औरत के दैहिक मानसिक और बौद्धिक शोषण के जो महीन चक्र लगातार चल रहे हैं, उनका सामना स्त्रियाँ अपने आत्मिक बल पर कैसे कर रही हैं- इसकी एक स्पष्ट झलक उपन्यास में मिलती है। "यह एक ऐसा उपन्यास है, जो उपन्यास के कथात्मक वृत्तान्त के बने बनाए ढाँचे को तोड़ता, धज्जी करता, अपनी स्थापत्य खुद खोजता है। लेखिका ने उपन्यास में स्त्री के दुखों को न तो बढ़ा-चढ़ा कर 'आँसू बहाऊँ' भावुकता में परिवर्तित किया है और न उसका किसी भी तरह का रोमानीकरण किया है।"⁷

उपन्यास 'मेरा नरक अपना है' में लेखिका ने बदलते सामाजिक संदर्भों को आत्मसात् किया है, उपन्यास में पति प्रेमी और पत्नी के त्रिकोणात्मक प्रेम से उत्पन्न समस्याओं और उसके दृष्परिणामों को चित्रित किया गया है। उपन्यास की नायिका शीला पति को समाज के भय से छोड़ती नहीं हैं, और प्रेमी से संबंध बनाये हुए हैं, जिसका प्रभाव उसकी लड़कियों पर पड़ता है। उनका गलत समाजीकरण होता है फलस्वरूप उनका आचरण स्वच्छन्दता पूर्ण होने के कारण बड़ी पुत्री कुंवारी माँ बन जाती है। इस प्रकार सामाजिक विसंगतियों का वर्णन और उसके दुष्परिणाम का चित्रण करना ही उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है।

इस प्रकार महिला लेखन 'नारी की स्थिति और गति' पर अधिक केन्द्रित रहते हुए उसमें पर्याप्त गम्भीरता तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों एवं रूपों के चित्रण में एक हद तक व्यापकता ला सका है। साथ ही महिला लेखन में भी नवीन तेवर के साथ स्त्री विमर्श की अभिव्यक्ति किया गया है। नारी को अभी भी बहुत से प्रश्नों को सुलझाना है, बहुत सी चुनौतियों का सामना करना है एवं बहुत-सी मंजिलें तय करनी हैं। अतः आज का महिला लेखन महत्वपूर्ण हैं उपेक्षणीय

है। वह किसी भी काल में नहीं रहा, वह निश्चित ही बहुत संभावना पूर्ण है। यह लेखन अपेक्षाएं भी जगाता है और उनकी पूर्ति का विश्वास भी दिलाता है।

इन महिला उपन्यास लेखिकाओं का लेखन परिवार की सीमाओं में बँधा रह कर भी अद्वितीय है। ये ऐसे उपन्यास हैं जिनके बगैर बीसवीं शताब्दी के उपन्यास लेखन की कोई मुकम्मल तस्वीर नहीं बन सकती। महिला उपन्यासकारों ने अपने इन उपन्यासों में स्त्रियों की दुनिया के भीतरी और बाहरी छटपटाहटों एवं अन्तर्द्वन्द्वों को बड़ी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्ति दी है।

आज की सामाजिक विसंगतियों ने जिस घुटन, टूटन और अन्तः संघर्ष को जन्म दिया है, उसका अत्यन्त सधी हुई कलम से चित्रण करने में ये महिला उपन्यासकार पूर्ण रूप से सफल रहीं हैं। विभिन्न सामाजिक समस्याओं से संघर्ष करती हुई जीवन पथ पर बढ़ने वाली नारी का बहुरंगी एवं बहुआयामी चित्रण भी इन लेखिकाओं के लेखन की विशेषता है। अपनी अस्मिता एवं अपने अस्तित्व की तलाश में संलग्न नारी को भी इन उपन्यास लेखिकाओं ने खोजा है और अपनी रचनाओं में ढाला है। निश्चय ही हिन्दी का महिला लेखन अत्यन्त व्यापक गहन एवं प्रभावशाली है।

संदर्भ-

1. एक औरत की नोटबुक, सुधा अरोड़ा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 5
2. पंचशील शोध समीक्षा, (सं.) डॉ. हेतु भारद्वाज, अक्टूबर-नवम्बर 2011, पृ. 89
3. उपन्यास और लोकजीवन, रैल्फ फाक्स, (अनु.) नरोत्तम नागर, पृ. 28
4. मित्रो मरजानी, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1967 पृ. 39
5. पचपन खंभे लाल दीवारें, उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली सं. 1961, आवरण पृष्ठ
6. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली सं. 1971, पृ. 129
7. दस्तावेज 89, अक्टूबर-दिसम्बर 2000, पृ. 46

शोध छात्रा (हिन्दी विभाग) डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

दलित मुक्ति-चेतना और अम्बेडकर

गणेश शर्मा

डॉ. भीमराव अम्बेडकर एक अत्यन्त प्रबुद्ध दलित लेखक थे। अम्बेडकर के राजनीतिक, सामाजिक कार्यों और उपलब्धियों को सन् 1920 के 'मूकनायक' और 1956 के धर्मान्तरण के कालखण्ड में देखा जा सकता है। उनके कार्यों ने दलित समाज में एक चेतना पैदा की। 'दासता से मुक्ति की चेतना' जिसे 'मुक्ति-संघर्ष' कहना ज्यादा सही होगा। दलित-मुक्ति-चेतना हेतु वे जीवन पर्यन्त लगे रहे। यह आन्दोलन एक नयी रोशनी लेकर आया था, हजारों साल को यातनापूर्ण जिन्दगी में उजाला भरने के संकल्प के साथ। इसी उजाले से दलितों में ऊर्जा का संचार हुआ और हजारों साल की दासता से मुक्त होने के लिए दलितों में एक छटपटाहट दिखाई देने लगी। इसी दौर में दलित लेखकों का एक समूह सामने आया, जो डॉ. अम्बेडकर के जीवन संघर्ष और उनके दर्शन से प्रभावित था। वर्तमान दलित साहित्य अम्बेडकर जी से सर्वाधिक प्रभावित है।

भीमराव अम्बेडकर के अनुसार- 'बुद्ध जीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है, सलाह दे सकता है और नेतृत्व प्रदान कर सकता है। किसी भी देश की अधिकांश जनता विचारशील एवं क्रियाशील जीवन व्यतीत नहीं करती। ऐसे लोग प्रायः बुद्धिजीवी वर्ग का अनुकरण एवं अनुगमन करते हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी देश का सम्पूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यह बुद्धिजीवी वर्ग ईमानदार, स्वतंत्र और निष्पक्ष है तो उस पर यह भरोसा किया जा सकता है कि संकट की घड़ी में वह पहल करेगा। यह ठीक है कि प्रज्ञा अपने आप में कोई गुण नहीं है। यह केवल साधन है और साधन का प्रयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है, जिसे बुद्धिमान व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। बुद्धिमान व्यक्ति भला हो सकता है लेकिन साथ ही वह दुष्ट भी हो सकता है। उसी प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग उच्च विचारों वाले व्यक्तियों का एक दल हो सकता है, जो सहायता करने

के लिए तैयार रहता है और पथभ्रष्ट लोगों को सही रास्ते पर लाने के लिए तैयार रहता है।'

अम्बेडकर ने दलित चेतना विषयक कुछ मनीषियों के विचार चुने हैं- 'सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप में जानों।'

'जो तर्क नहीं करेगा, वह धर्मान्ध है,
जो तर्क नहीं कर सकता है, वह मूर्ख है,
जो तर्क करने का साहस नहीं कर सकता, वह दास है।'²

अम्बेडकर के लिए सबसे बड़ा शैतान था उच्च जातियों का शासन, ब्राह्मणवाद का दर्शन और उसका रूप जाति प्रथा।³ जाति प्रथा के अम्बेडकर सख्त विरोधी थे। इस संबंध में हिन्दू समाज के प्रति अम्बेडकर के विचार- 'जाति प्रथा से आर्थिक उन्नति नहीं होती। जाति प्रथा से न तो नस्ल या प्रजाति में सुधार हुआ है और न ही होगा। लेकिन इससे एक बात अवश्य सिद्ध हुई है कि इससे हिन्दू समाज पूरी तरह छिन्न-भिन्न और हताश हो गया है।'⁴

अम्बेडकर के अनुसार- जातिप्रथा ने जनचेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जाति प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति होना असंभव हो गया है।⁵ जाति व्यवस्था को समाप्त करने का वास्तविक उपाय अन्तर्जातीय विवाह ही है। जाति व्यवस्था समाप्त करने के लिए जाति-विलय जैसे उपाय को छोड़कर और कोई उपाय कारगर सिद्ध नहीं होगा।⁶ महात्मा गाँधी ने भी स्वीकार किया है कि- 'जाति-पात आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विकास दोनों के लिए हानिप्रद है।' और हो सकता है कि उनके पुत्र का जाति के बाहर विवाह इन्हीं के विचारों के परिवर्तन की देन है।⁷

अम्बेडकर का मानना था कि कोई भी सुधार तब शुरू होता है, जब कोई व्यक्ति अपने समुदाय के मानकों, समुदाय

की सत्ता और समुदाय के हित से ऊपर उठकर अपने विचारों, धारणाओं पर अधिक बल देता है, लेकिन यह सुधार इस पर निर्भर करता है कि उस व्यक्ति का समुदाय उसके दृढ़ विचारों को किस सीमा तक समर्थन देता है।

डॉ. अम्बेडकर एक सच्चे धर्म के सम्बन्ध में बर्क के नियमों का समर्थन करते हैं। बर्क के अनुसार- 'सच्चा धर्म समाज की नींव है, जिस पर सब नागरिक सरकारें टिकी हुई हैं।'⁸ धर्मग्रन्थों के सम्बन्ध में अम्बेडकर के विचार थे- 'सही धर्म ग्रन्थ उन्हें ही कहा जा सकता है, जो शाश्वत हैं तथा अंतःकरण को छूते हैं अर्थात् उन लोगों के हृदय को आकर्षित करते हैं, जिनके ज्ञान चक्षु खुले हों।'⁹

मैं अन्याय, अत्याचार, आडम्बर तथा अनर्थ से घृणा करता हूँ और मेरी घृणा उन सब लोगों के प्रति है, जो इन्हें करते हैं, वे इनके दोषी हैं। मैं अपने आलोचकों को यह बताना चाहता हूँ कि मैं अपने घृणा भावों को वास्तविक बल एवं शक्ति मानता हूँ। वह केवल उस प्रेम की अभिव्यक्ति है जो मैं उन ध्येयों व उद्देश्यों के लिए प्रकट करता हूँ, जिनके प्रति मेरा विश्वास है। उसके लिए मुझे किसी प्रकार की शर्म महसूस नहीं होती। अतः श्री गाँधी और जिन्ना की मैंने जो आलोचना की है, उसके लिए मैं कोई क्षमा-याचना या खेद प्रकट नहीं करता, क्योंकि इन दोनों महानुभावों ने भारत की राजनीतिक प्रगति को ठप्प कर दिया है।¹⁰

मैं मूर्तिपूजक नहीं हूँ। मैं तो मूर्ति भंजक हूँ। मेरा आग्रह है कि मैं यदि श्री गाँधी तथा जिन्ना से घृणा करता हूँ तो मैं उन्हें केवल पसन्द नहीं करता, मैं उनसे घृणा नहीं करता। उसका कारण यह है कि मैं भारत से अधिक प्रेम करता हूँ। यह एक राष्ट्रवादी की सच्ची निष्ठा है। मुझे आशा है कि मेरे देशवासी किसी न किसी दिन यह सीख लेंगे कि देश, व्यक्ति से कहीं महान होता है।¹¹ -15 मार्च 1943

कोई भी महापुरुष वास्तव में अपने सिद्धान्तों या निष्कर्षों को अपने शिष्यों पर थोपकर उन्हें पंगु नहीं बनाता। महापुरुष अपने शिष्यों पर अपने सिद्धान्त नहीं थोपता बल्कि वह उनका आह्वान करता है और उनकी विभिन्न क्षमताओं को जागृत करके उन्हें कर्मठ बनाता है। शिष्य अपने गुरु से केवल मार्गदर्शन प्राप्त करता है। वह अपने गुरु के निष्कर्षों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। अपने गुरु सिद्धान्तों या निष्कर्षों को अस्वीकार करने में शिष्य की कोई कृतधनता नहीं होती है।¹²

भारत में राजनीतिक समानता की व्यवस्था तो हो ही गयी है किन्तु अभी सामाजिक और आर्थिक जीवन में

विषमताएँ शेष हैं। इस विसंगति को शीघ्रतिशीघ्र दूर किया जाय या फिर वे लोग जो सताये हुए हैं, राजनीतिक लोकतंत्र की धज्जियाँ उड़ा देंगे।¹³ -भीमराव अम्बेडकर

अम्बेडकर का मानना है कि- 'मैं इस देश के लोगों के दिमाग में यह शंका नहीं रहने दूँगा कि मेरी दूसरी वफादारी भी है जिससे मैं बँधा हूँ और जिसे मैं कभी नहीं छोड़ सकता। वह वफादारी अछूतों का समुदाय है, जिससे मैं पैदा हुआ हूँ, मैं जिसमें रहता हूँ और मैं उम्मीद करता हूँ कि इसे कभी नहीं छोड़ूँगा और मैं इस सदन से, यथा सम्भव जोर से, यह कहता हूँ कि जब भी इस देश के और अछूतों के हितों में टकराव होगा, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, अछूतों के हितों को देश के हितों के ऊपर स्थान मिलेगा।... देश और मेरे बीच देश का स्थान ऊपर रहेगा, देश और दलित वर्ग के बीच दलित वर्ग का स्थान ऊपर रहेगा, देश का स्थान ऊपर नहीं रहेगा।'¹⁴

अम्बेडकर के अनुसार- 'राष्ट्र के संदर्भ में राष्ट्रीयता का अर्थ होना चाहिए सामाजिक एकता की दृढ़ भावना। अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में इसका आधार हो भाईचारा।'¹⁵ 'कार्य करने की वास्तविकता स्वतंत्रता केवल वहीं पर होती है, जहाँ शोषण का समूल नाश कर दिया गया है। जहाँ एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर अत्याचार नहीं किया जाता, जहाँ बेरोजगारी नहीं है, जहाँ गरीबी नहीं है, जहाँ किसी व्यक्ति को अपने धंधे के हाथ से निकल जाने का भय नहीं है। अपने कार्यों के परिणामस्वरूप जहाँ व्यक्ति अपने धंधे की हानि, घर की हानि तथा रोजी-रोटी की हानि के भय से मुक्त है।'¹⁶ अम्बेडकर के अनुसार- 'गुलामी की लम्बी ज़िन्दगी से आजादी के कुछ पलों का जीवन कहीं अच्छा है।'¹⁷

सामाजिक कल्याण के निमित्त भगवान बुद्ध का कथन है- 'जिस प्रकार अपने जीवन का खतरा उठाते हुए माँ अपने शिशु की देखभाल करती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को सभी प्राणियों के प्रति अपार प्रेम प्रदान करने के लिए मन बनाना चाहिए। उसे सम्पूर्ण विश्व के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए। ऊपर-नीचे और उस-पार सभी के लिए उसके मन में घृणाहीन और शत्रुता रहित अबाध प्रेम होना चाहिए। ऐसी जीवन-पद्धति विश्व में सर्वोत्तम है।'¹⁸

गौतम बुद्ध के विचारों से अम्बेडकर सर्वाधिक प्रभावित हुए और बौद्ध धर्म स्वीकार किये। उन्होंने बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में कहा है- 'दुःख निवारण के लिए बौद्ध धर्म का मार्ग ही सुरक्षित मार्ग है। बौद्ध धर्म पूर्णतः भारतीय है और गौतम बुद्ध न केवल भारत के उद्धारक थे, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के उन्नायक थे।'¹⁹ डॉ. अम्बेडकर 'मनुस्मृति' को कर्तव्य-प्रधान

ग्रन्थ मानते हैं। उनका मानना है कि मनु वह सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने कर्तव्यों को व्यवस्थित तथा संहिताबद्ध किया, जिनका आचरण करने हेतु हिन्दू बाध्य थे। वह वर्णाश्रम धर्म और साधारण धर्म में अन्तर मानते हैं। वर्णाश्रम धर्म विशिष्ट कर्तव्य हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के जीवन में उसकी अवस्था से है। यह अवस्था उसके वर्ण या जाति और उसके आश्रम अथवा जीवन की विशिष्ट स्थिति से निर्धारित होती है। साधारण धर्म के कर्तव्य हैं- जिन्हें आयु जाति या मत से प्रभावित किसी विशेष समुदाय या सामाजिक वर्ग या जीवन की विशेष अवस्था का होने के कारण नहीं बल्कि मनुष्य होने के कारण करना चाहिए।²⁰

हिन्दू-समुदाय के धर्म के सम्बन्ध में अम्बेडकर का कथन है- 'हिन्दू जिसे धर्म कहते हैं, वह सामाजिक आदेशों और निषेधों का पुलिंदा है।.... धर्म का मूल्यांकन सामाजिक मानदण्डों से किया जाना चाहिए, जो सामाजिक आचारों-विचारों पर आधारित है।'²¹ सन् 1918 में मॉट फोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई। बम्बई में साउथबरा समिति के समक्ष अम्बेडकर ने दलितों की तरफ से एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। दलित के सम्बन्ध में उन्होंने सुझाव दिया कि जनसंख्या के अनुपातों में उनके लिए स्थान आरक्षित किये जायें, पृथक् निर्वाचक मण्डल हो तथा दलित मतदाताओं की संख्या बढ़ाने के लिए आय और सम्पत्ति सम्बन्धी शर्तों को शिथिल किया जाय।²² भारत वापस आने पर अम्बेडकर ने दलित वर्गों के उन्नति के लिए स्थापित मृतप्राय संस्था 'बहिष्कृत हित कारणी सभा' को पुनर्जीवित किया। अम्बेडकर के नेतृत्व के कारण उसे काफी प्रतिष्ठा मिली। सभा के कार्यकलाप थे- खेल, वाचनालय, छात्रावास, सहकारी बचत, उधार समितियाँ, मासिक प्रकाशन, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि।²³

1935 के संविधान अधिनियम के अनुसार जब चुनाव हुए तो अम्बेडकर ने चुनाव लड़ने के लिए स्वतंत्र मजदूर पार्टी बनाई थी। क्षेत्रवाद एवं प्रतिवाद के अम्बेडकर विरोधी थे। अप्रैल 1938 में बम्बई विधानसभा में उन्होंने कहा- 'मुझे अच्छा नहीं लगता जब कुछ लोग कहते हैं कि हम पहले भारतीय हैं और बाद में हिन्दू अथवा मुसलमान। मुझे यह स्वीकार नहीं है। धर्म, संस्कृति, भाषा आदि की प्रतिस्पर्धा निष्ठा के रहते हुए भारतीयता के प्रति निष्ठा नहीं पनप सकती। मैं चाहता हूँ कि लोग पहले भी भारतीय हों और अन्त तक भारतीय रहें, भारतीय के अलावा कुछ नहीं।'²⁴

लोकतंत्र को अम्बेडकर ने लिंकन से अलग ढंग से परिभाषित किया है- 'मैं समझता हूँ कि लोकतंत्र ऐसी सरकार है जिसमें जनता के सामाजिक और आर्थिक जीवन

में क्रान्तिकारी परिवर्तन, रक्तहीन तरीके से किये जा सके। अम्बेडकर राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र में बदलना चाहते थे।'²⁵

डॉ. अम्बेडकर हिन्दू समाज के सभी दमनकारी स्वरूपों के विरुद्ध, विद्रोह के प्रतीक मात्र नहीं थे। बल्कि वह बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी थे। एक राजनीतिक तथा राष्ट्रीय नेता के नाते उन्होंने अपने पीछे संविधान के रूप में एक मूल्यवान विरासत छोड़ी थी। उनका यह दृढ़ मत था कि शिक्षा के बिना प्रगति सम्भव नहीं है। शोषितों के उद्धार के लिए उन्होंने जीवन भर जो संघर्ष किया उससे उन्हें सामाजिक और आर्थिक अन्याय से पीड़ित मानवता के उद्धारक के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई थी।

संदर्भ-

1. बाबा साहेब अम्बेडकर : सम्पूर्ण वाङ्मय, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता, मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, संस्करण, अगस्त-2000, खण्ड-1, पृ. 5
2. वही, पृ. 37
3. बाबा साहेब अम्बेडकर एक चिन्तन: मधुलिमये, आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण-2000, पृ. 41
4. बाबा साहेब अम्बेडकर : सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-1, पृ. 69
5. वही, पृ. 77
6. वही, पृ. 91
7. वही, पृ. 118
8. वही, पृ. 101
9. वही, पृ. 108
10. वही, पृ. 250
11. वही, पृ. 251
12. वही, पृ. 288
13. वही, खण्ड-2, पिछला आवरण पृष्ठ
14. वही, खण्ड-3, पृ. 286-287
15. वही, पिछला आवरण पृष्ठ
16. वही, खण्ड-6, पृ. 3
17. वही, खण्ड-9, पिछला आवरण पृष्ठ
18. वही, खण्ड-7, पृ. 3
19. वही, भाग-7, पिछला आवरण पृष्ठ
20. वही, भाग-7, पृ. 226
21. वही, पृ. 370
22. बाबा साहेब अम्बेडकर एक चिन्तन, पृ. 12
23. वही, पृ. 15
24. वही, पृ. 18
25. वही, पृ. 102

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, बुद्ध पी.जी. कॉलेज, कुशीनगर

नासिरा शर्मा के उपन्यास साहित्य का परिचय

डॉ. पूजा

नासिरा शर्मा ने अपने साहित्य में आज के परिवेश की सभी ज्वलंत समस्याओं को उजागर किया है उनके कथा साहित्य की सोच का दायरा किसी देश व समाज से बँधा न होकर वैश्विक परिप्रेक्ष्य में पूर्णतः फैला हुआ है। उन्होंने अपने लेखन द्वारा इंसान की सोई चेतना व इंसानियत को झकझोर कर जगाने का प्रयास किया है, वास्तव में उनका यह प्रयास क़ाबिले तारीफ है, जो हिंदी साहित्य में उनकी शिखरयत (व्यक्तित्व) को विशिष्ट गौरवमय स्थान प्रदान करता है। नासिरा शर्मा का साहित्य के क्षेत्र में जितना योगदान है उतना ही योगदान साहित्येत्तर लेखन में भी है। इनका कथा साहित्य एक प्रकार से सूक्ष्मता लिए हुए है, उसमें हमें विचार और तर्क का अद्भूत सामंजस्य देखने को मिलता है।

नासिरा शर्मा ने अपने साहित्य में नारी समाज की दबी-कुचली भावनाओं को उभारकर साहित्य मंच पर लाकर सोच-विचार करने के लिए मजबूर कर दिया है। उनके नारी लेखन का यह सिलसिला हिंदी साहित्य जगत् में मील का पत्थर साबित होगा। उनके अब तक प्रकाशित उपन्यास निम्न हैं-

1. शाल्मली (1987)

विख्यात कथाकार नासिरा शर्मा का 1987 में पहली बार प्रकाशित उपन्यास 'शाल्मली' आज पच्चीस-छब्बीस साल बाद भी पहले जैसी ताज़गी लिये हुए पठनीय बना हुआ है। 'शाल्मली' उपन्यास में पारिवारिक जीवन की कथा है। 'शाल्मली' उपन्यास की मुख्य पात्र है, जो अपने माता-पिता की इकलौती संतान होने के कारण स्नेह और ममता की छाया में पली है। एक साधारण व्यक्ति होते हुए भी, पिता का एक मात्र सपना है कि शाल्मली पढ़-लिखकर अपना एक अलग-अस्तित्व बनाए और अपने पैरों पर खड़ी हो। शाल्मली सोचती थी कि क्या उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत भी वह एक गृहणी मात्र बनकर रह जाएगी।

शाल्मली के पिताजी ने नरेश नाम के वर को अपनी कन्या के लिए चुन कर नरेश के साथ शाल्मली का विवाह कर दिया। शाल्मली ने सोचा था कि नरेश अन्य पुरुषों से भिन्न है और उसे जीवन में नीरसता नहीं भोगनी पड़ेगी। लेकिन शादी की पहली रात ही उसे यह एहसास दिलाया गया, कि वह पत्नी है और नरेश पति। शाल्मली नौकरी करने लगती है। नरेश की इच्छा थी कि वह नौकरी छोड़ दे, नरेश शाल्मली को घर टूटने की धमकी भी देता है। 'जैसे-जैसे शाल्मली को नरेश एक विशेष दायरे में कसता चला गया, वैसे-वैसे शाल्मली के काम का दायरा दिमागी रूप से फैलता चला गया।' वह एक मशीन की तरह जी रही थी। शाल्मली को एक दिन पता चला कि नरेश के लिए अक्सर किसी अन्य महिला का फोन आता है। आज भी किसी महिला का फोन आने पर वह घर देर से आने के लिए कहकर चला गया। शाल्मली समाज में रहकर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही थी। इस प्रकार नासिरा शर्मा ने 'शाल्मली' उपन्यास के माध्यम से नारी जीवन का चित्रण ही नहीं किया, बल्कि उसके जीवन से जुड़ी समस्याओं विडंबनाओं और विषमताओं को दूर किया है।

2. ठीकरे की मंगनी (1889)

नासिरा शर्मा का यह उपन्यास भारतीय ग्रामीण महिला जीवन के संघर्ष पर आधारित है। यह उपन्यास एक सौ बावन पृष्ठों में अंकित है। 'ठीकरे की मंगनी' एक मुस्लिम परिवार की कथा है। 'ठीकरे की मंगनी' से आशय है, छोटी आयु में मंगनी तय कर देना। इस उपन्यास की मुख्य पात्र महरूख है। उस परिवार में कई लड़कियों का जन्म तो हुआ पर जन्म लेने के कुछ ही दिनों या महीनों के पश्चात् उनकी मृत्यु हो जाती, बड़ी मन्तों के बाद महरूख का जन्म हुआ भाग्य में महरूख का जीवित रहना ही लिखा था।¹ बड़ी मन्तों के बाद जब महरूख हुई तो उसकी मौसी ने उसके जन्मते ही उसे गोद लेकर अपने बेटे के लिए तुरंत माँग लिया, उसकी मंगनी

उसके खालाज़ाद भाई रफ़त से बचपन में ही कर दी गई थी। अपनी मंगनी के संबंध में महरूख को उस समय पता चला जब वह हाई-स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकी थी। महरूख जब रफ़त भाई के रंग में पूरी तरह से अपने को रंगने में मजबूर थी उस वक़्त खबर मिली कि रफ़त भाई अमेरिका में किसी और के साथ ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं। इस बात से महरूख को नफरत हो गयी उसने उसको पत्र लिखना छोड़ दिया। महरूख अपनी पी-एच.डी. अधूरी छोड़कर एक गाँव में नौकरी करने लगी। घर-परिवार में महरूख का निर्मल स्वभाव और सादा जीवन गाँव वालों को बहुत प्रभावित करता, महरूख ने आजीवन अविवाहित रहकर गाँव के लोगों और विद्यालय की सेवा करने का प्रण किया। माता-पिता तथा बुजुर्गों की मृत्यु के पश्चात् वह फिर उसी गाँव में वापस चली जाती है, रफ़त से विवाह के लिए मना कर देती है। महरूख के व्यक्तित्व में साहस और दृढ़ता इसलिए थी क्योंकि वह शिक्षित और आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी नारी है। महरूख अपने समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाए हुए है जो कि अपने जीवन को अकेले जीने का साहस करती है, नौकरी के साथ वह अपने भविष्य और वर्तमान पर भी विचार करती है।

3. ज़िंदा-मुहावरे (1994)

भारत देश के स्वतंत्र होते ही बँटवारे की समस्या ने जन्म लिया, देश हिंदुस्तान-पाकिस्तान दो टुकड़ों में बँट गया। हिंदुस्तान के बँटवारे की तकलीफ को करोड़ों लोगों ने झेला-भोगा। 'ज़िंदा-मुहावरे' में एक ऐसी कथा को वर्णित किया है जो कि फैज़ाबाद के रहमतुल्लाह भी उनमें से एक थे। वह खुद अपना गाँव-घर की जमीन, अपना वतन छोड़कर नहीं जा सका। लेकिन उन्हीं का छोटा बेटा निज़ाम पाकिस्तान चला गया। 'ज़िंदा मुहावरे' में सिर्फ एक परिवार के माध्यम से इस कदर सच को सामने ला खड़ा किया है कि इतने बड़े ऐतिहासिक हादसे से उपजी पीड़ा किसी एक कौम की नहीं, बल्कि समूची इंसानियत की है। निज़ाम भी अपने माता-पिता, भाई-बहन, भाभी और भांजे को गाँव में अकेले छोड़ पाकिस्तान जाने वाले काफ़िले के साथ चल पड़ा। घर वालों के मना करने के उपरांत भी उसे विभाजन के बाद पाकिस्तान जाकर बसना ही उचित लगा। कराची पहुँचकर उसे उस अनजान शहर से डर लगा। किंतु घर लौटने का भी साहस न कर सका। साल भर के भीतर निज़ाम ने कपड़ों की फेरी लगाकर अपनी जीविका चलाने के अतिरिक्त धीरे-धीरे निज़ाम की झिझक जाती रही। और वह अपना अलग कपड़ों का व्यापार चलाने की सोचने

लगा। ताकि वह गर्व से अपने घर वालों को अपनी उन्नति की सूचना दे सके। निज़ाम ने भारत से ही पलायन करने वाले एक परिवार की लड़की सबिता से विवाह कर लिया। निज़ाम के कुछ समय बाद एक बेटा हो गया। निज़ाम परिवार सहित दिल्ली इमाम से मिलने गया तो निज़ाम को अपने माता-पिता की कमी का दुख हुआ निज़ाम मन ही मन उस पल को कोसने लगा जब वह जोश में आकर घर छोड़ बैठा था। निज़ाम भारत से अपने पुत्र का संबंध जोड़ना चाहता था कोई अपनी बेटी पाकिस्तान में व्याह करने को तैयार नहीं था। नासिरा शर्मा ने गहरे उतरकर भारत में रहने वाले मुसलमानों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक ज़िंदगी को टटोला है कि धरती भले ही बँट जाये इंसानी रिश्ते नहीं बँटते।

4. अक्षयवट (2003)

नासिरा शर्मा ने इलाहाबादी संस्कृति की सूक्ष्मतम इकाइयों को आधार बनाकर संपूर्ण इलाहाबाद के जीवन की तस्वीर विभिन्न रंगों व छवियों में मुखरित की है, इलाहाबाद के मोहल्ले में रहने वाले जहीर की कहानी इस उपन्यास की मूलकथा है। जैसे कि हिंदुस्तान के हर नागरिक का पूर्वज गाँव में होता है, वैसे ही अकबरपुर मुहल्ले के जहीर के परदादा सगीर अहमद पास के ही किसी गाँव में डॉक्टरी करते थे। अंधविश्वास के खिलाफ बात करने के एवज़ में उन्हें जान से हाथ धोना पड़ा तब उनकी बीबी फिरदौस बेगम इलाहाबाद आ गयी और वहाँ डॉक्टर सगीर अहमद द्वारा खरीदी हुई जमीन पर मकान बनाकर रहने लगी। सगीर अहमद के बेटे मजीद अहमद वतन को मोहब्बत में सूली पर चढ़ा दिए गए उनकी बीबी मेहरुन्निसा ने भी बड़ी हिम्मत से इस हादसे को सह लिया और बेटे शमीम अहमद को अलीगढ़ में तालीम दिलाई। शमीम अहमद तहसीलदार बने उनका फ़िरोज़जहाँ से निकाह हुआ। यह सिलसिला इस खानदान में चलता रहा उनके बेटे नसीम का विवाह जल्दी ही हो गया और अलीगढ़ में सिपतुन विवाह कर इलाहाबाद आ गई। कुछ ही दिनों के बाद हिंदी और गोहत्या को लेकर सांप्रदायिक दंगे में नसीम भी खुदा को प्यारे हो गये। इस खानदान के इस दुर्भाग्य को क्या कहा जाए? कभी-कभी ऐसा दुर्भाग्य किसी वंश में होता है। इसी वंश का चिराग है-ज़हीर, नसीम सिपतुन के बेटा और दादी फ़िरोज़जहाँ और सिपतुन का बेटा जहीर अपना साथ-साथ जीवन व्यतीत करते हैं। अचानक विश्वविद्यालय से ज़हीर की पढ़ाई छूट चुकी थी। घर से मुसीबत का पहाड़ आन गिरा। फ़िरोज़जहाँ की अचानक तबियत खराब हो गयी सिपतुन ने

जो घरेलू व्यवसाय में पैसा इकट्ठा किया वह पैसा पानी की तरह बह गया। सिपतुन की जमा पूँजी लगभग खत्म हो गयी ज़हीर के व्यवसाय करने के बाद फ़िरोज़जहाँ की मृत्यु हो जाने से जहीर के मित्र की बहन मुनिया दुर्घटना में मर जाती है विधवा रेवती के साथ हुई बलात्कार की समस्या आदि। ज़हीर के जीवन में धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति में सुधार होने लगता है। सिपतुन उसके विवाह करने पर विचार करती है तथा कुछ समय बाद ज़हीर का विवाह हो जाता है।

इस प्रकार नासिरा शर्मा ने अपनी कलम की पूरी शक्ति इलाहाबाद में हो रहे सांस्कृतिक कार्यक्रम के उल्लेख में लगा दी।

5. कुइयाँजान (2007)

जल की इसी ज्वलंत समस्या को लेकर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लेखिका नासिरा शर्मा ने इस उपन्यास 'कुइयाँजान' का रोचक ताना-बाना बुना है। बताशेवाली गली में सुबह फूट चुकी थी मगर उसका उजाला तँग गली में अपनी दूधिया रंग अभी बिखेर नहीं पाया था। चंदन हलवाई दातून करता घर के बाहर बने पतले चबूतरे पर आकर बैठ गया। बताशेवाली गली से ही मिली दाहिनी और पेचदार गली थीं जिसके अंत में पेड़ों से घिरी एक पुरानी टूटी-फूटी मस्जिद खड़ी थी, जिसमें जाने कब से बूँढ़े मौलाना रहते थे। वही अजान देते, वही नमाज पढ़वाते और वही मरने जीने की जिम्मेदारी भी निभाते थे उस मस्जिद में उनके साथ एक लड़का रहने लगा। जिसका नाम बदलू था, अजान की जगह सुबह-सुबह उसके रोने की आवाज़ सुनकर मस्जिद के पास वाले घर की छत से किसी ने पूछा, 'कस वे बदलू, आखिर बात का है जो रोवत हो। मौलवीजी उठ नहीं रहे हैं। बदलू ने रोते-रोते कहा और मस्जिद से बाहर निकला।'³ मौलाना बरसों पहले अकेले यहाँ आए थे। उनका खानदान भी नहीं था। बुजुर्गवार अक्सर कहा करते थे कि इस दुनिया में बदलू ही मुझ लावारिस का इकलौता सहारा है पास के होटल से मौलाना खाना मंगवाते थे। मौलाना की आमदनी तो कुछ भी नहीं थी। सिवाय उस फितरें जो दो-तीन घरों से उन तक पहुँचता था। जिससे उनका खर्च जैसे-तैसे चल जाता था। मौलाना साहब के बाद बदलू एक अनाथ अथवा बेसहारा हो गया। शकरआरा घर में अकेले रहने के कारण उन्होंने बदलू को रख लिया। शकरहारा का पुत्र जब डॉक्टर बनकर आया तो उसने अपनी क्लीनिक खोल ली। थोड़ी-बहुत दवाई के बारे में बदलू को समझा दिया था। बदलू खुद क्लीनिक को संभालने लगा। कमाल की शादी समीना से

हो जाती है। अचानक कमाल अपने कार्य में परेशान रहने के कारण समीना की देखभाल नहीं कर पाया, समीना दो पुत्रियों को जन्म दे चुकी थी, दोनों पुत्रियों के जन्म के उपरांत समीना की मृत्यु हो जाती है। पंखुड़ी और पराग की देखभाल कमाल को करनी पड़ती है बदलू भी कमाल के साथ पुत्रियों के पालन-पोषण में मदद करता है। "इस उपन्यास को 2007 का नामवर सिंह ने श्रेष्ठ उपन्यास बताया है।"⁴

6. ज़ीरो रोड (2008)

इस उपन्यास में नासिरा शर्मा ने इलाहाबाद के परिवेश को वर्णित किया है। इलाहाबाद शहर में रहने वाले रामप्रसाद का परिवार और इनके पड़ोस में रहने वाले जगत राम की पारिवारिक कथा को प्रस्तुत किया है। दोनों परिवार का व्यवहारिक संबंध मिला-जुला है। जगत राम के घर में आधुनिक सुविधा थी किंतु रामप्रसाद के घर में आधुनिक सुविधा नहीं थी। रामप्रसाद का बड़ा बेटा सिद्धार्थ घर की आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण दुबई में नौकरी करने जाता है, वहाँ वह नौकरी करने लगता है। सिद्धार्थ दुबई में अपना साधारण जीवन व्यतीत करना होता है। इलाहाबाद में सिद्धार्थ के माता-पिता छोटा भाई और छोटी बहिन अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनके पड़ोसी जगत राम की पुत्री कविता है जो सिद्धार्थ को चाहने लगती है अथवा कविता के परिवार वाले भी सिद्धार्थ के साथ कविता का विवाह करना चाहते हैं इसलिए वह भी सिद्धार्थ के साथ कविता का विवाह करना चाहते हैं इसलिए वह कविता को सिद्धार्थ के घर जाने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाते हैं सिद्धार्थ के परिवार वाले कविता को पसंद तो करते परंतु वह उनसे रिश्ता जोड़ना नहीं चाहते थे। कविता के पिता ने रामप्रसाद से कहना चाहा आपितु कह नहीं सके। उनका आना-जाना भी धीरे-धीरे करके बंद हो गया। सिद्धार्थ के पिता दूसरा घर लेना चाहते थे। क्योंकि वह जिस मुहल्ले में रहते थे वहाँ सारी कौमें रहती थी, वह उस वातावरण को छोड़ना चाहते थे घर को बदलना चाहते थे। सिद्धार्थ अपने माता-पिता से मिलने आता है फिर वापस दुबई लौट जाता है। सिद्धार्थ का जाना भी जरूरी होता है सिद्धार्थ दुबई में कैथरील को चाहने लगता है लेकिन अचानक सिद्धार्थ के पिता की दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है। सिद्धार्थ को फोन पर पता चलता है कि पिता जी की मृत्यु हो गयी है तो हमेशा के लिए दुबई छोड़ आता है।

7. बाहिश्ते ज़हरा (2009)

इस उपन्यास को दो नाम दिये गये हैं, पहले यह

उपन्यास 'सात नदियाँ एक समुन्दर' के नाम से हमारे सामने आया, किंतु वही उपन्यास 2009 में 'बहिश्ते ज़हरा' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास ईरान की क्रांति पर लिखा गया है। तैयबा, अख्तर, मलीहा, परी, महनाज, सूसन, सनोवर सात सखियाँ, तेहरान विश्वविद्यालय में फारसी साहित्य में स्नातकोत्तर की कक्षा में पढ़ती थी। सभी अपने-अपने ढंग की एक अलग व्यक्तित्व वाली और भिन्न विचारों वाली थीं। फिर भी सातों में अच्छी घनिष्टता थी। इन सबमें से गंभीर और सुलझी हुई तैयबा है। महनाज की शादी असलम से न हो सकी, किंतु उसकी शादी ईरान युवक सुलेमान से कर दी गयी। मलीहा का विवाह हुसैन नामक युवक से होता है। ईरान में विद्रोह और क्रांति का स्वर जोर पकड़ रहा था उसी समय अख्तर भी इस क्रांति के समुद्र में कूद पड़ती है। ईरान के सारे लोग ईरान छोड़ कर चले गये थे वह सब वापिस लौट आते हैं। इसके उपरांत मलीहा अपने ही देश में दो बच्चों सहित अकेली रह जाती है। शाहनाज जिसे परी की सहायता से एक समाचार पत्र में नौकरी मिली। वह उसके साथ ही रहती है। सूसन भी मलीहा के देवर-असद से विवाह कर लेती है। असद भी अपनी फर्म में काम करने वाली एक तलाकशुदा औरत से प्रेम करता है तथा उससे विवाह भी करना चाहता है। असद से तलाक मिलने के बाद उसका विवाह अब्बास नामक पुरुष से कर दिया जाता है। जो सूसन के जीवन में प्यार भर देता है। अब्बास के एक महिला के आरोप के कारण अब्बास और सूसन सब छोड़कर गाँव के पुश्तैनी मकान में रहने के लिए चले जाते हैं। परी का पति खालिद नित नई लड़कियों से स्वयं सुधार कर अपने घर लौट आता है। किंतु मलीहा का पति जेल चला जाता है, मलीहा को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सनोवर का विवाह एक एयरफोर्स अफसर जमील से होता है तथा शाहनाज का विवाह उसके चचेरे भाई से तय हुआ था। ईरान की जेल में तैयबा को बंद कर दिया जाता है

वह समाज को लेख के माध्यम से जाग्रत करना चाहती थीं। अंत में उसकी मृत्यु कर दी जाती है। तययबा के मुख से एक स्वर निकलता है-अलविदा मेरे, प्यारे वतन अलविदा।

नासिरा शर्मा ने अपने उपन्यासों 'शाल्मली', 'ठीकरे की मंगनी', 'जिंदा मुहावरे', 'अक्षयवट', 'बहिश्ते ज़हरा' में ऐसी औरते निर्मित की है जो अपनी स्वतंत्रता के लिए स्वयं ही जूझती हैं। उनकी सोच का दायरा किसी देश व समाज से बँधा न होकर वैश्विक परिप्रेक्ष्य में पूर्णतः फैला है। उन्होंने विभिन्न देशों व समाजों की स्त्रियों एवं उनकी समस्याओं को निकट से देखने व समझने का प्रयास किया है। आज नारी की महत्वकांक्षा, पति, बच्चे व परिवार तक सीमित न होकर समाज व राष्ट्र तक व्यापक हो गयी है। 'कुइयाँजान' में पानी के अतीत और भविष्य दोनों को दर्शाया गया है, 'जीरो रोड' उपन्यास में गली-मुहल्ला, देश-समाज और दुनिया को अपने भीतर कई-कई रंगों में देखा और महसूस किया। नासिरा शर्मा जी अपने लेखन द्वारा इंसान की सोई चेतना व इंसानियत को झकझोर कर जगाने का प्रयास करती है।

उपरोक्त उपन्यासों के अतिरिक्त पारिजात, कागज़ की नाव आदि उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं।

संदर्भ-

1. नासिरा शर्मा, शाल्मली, किताबघर, नई दिल्ली, 1987, पृ. 63
2. नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, 1989, पृ. 16
3. नासिरा शर्मा, कुइयाँजान, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 9
4. डॉ. एम. फ़ीरोज़ अहमद, वाङ्मय (त्रैमासिक) 2009, पृ. 118

प्रवक्ता राजकीय महाविद्यालय, सेक्टर-1, पंचकुला, हरियाणा

भोजपुरी के लोकनाटकों में व्याप्त सांस्कृतिक चेतना

रिंकल उपाध्याय

भारत बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक बहुरंगी देश हैं, अनेक लोक कलाएँ लोक- नाट्य रूप (ज्ञात और अज्ञात) इसके विभिन्न प्रान्तों में बिखरे पड़े हैं। आश्चर्यजनक रूप से इतनी विविधता के बावजूद भारतीय लोकनाटकों में एक जबरदस्त एकता दिखाई देती है। यह एकता शिल्प के स्तर पर पूर्व रंग, संगीत की प्रधानता कथावस्तु अथवा सूत्रधार या विदूषक के रूप में दिखाई देती है। लगभग सभी लोकनाटक किसी न किसी रूप में नाट्यशास्त्र के पूर्व रंग विधि का पालन करते हैं। सूत्रधार, नट-नटी विदूषक इत्यादि नाट्यशास्त्र से ही इधर आये हैं। यही वह डोर है जिनमें बँधकर एक भौगोलिक स्थितियों में ना होने के बावजूद भारत जैसे विशाल देश में जातीय संस्कृति की एकता दिखाई देती है। इस विशिष्टता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी अपनी पुस्तक भारतीय लोकनाट्य में लिखते हैं- “लोककला रूपों की जातीय संस्कृति से गहरी निकटता रही है। ये कला रूप अलग-अलग क्षेत्रों में अपनी विशिष्टता के अनुरूप परस्पर भिन्न शैक्षिक निजता रखने के बावजूद अन्तर्वस्तु के स्तर पर गहरे एकात्म होते हैं।”¹

भोजपुरी भाषा में लोक नाटकों की संख्या तो बहुत कम है, लेकिन जो भी नाटक उपलब्ध होते हैं उनमें भिखारी ठाकुर, पं. राहुल सांकृत्यायन के नाटक विशेष रूप से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसके अलावा भोजपुरी भाषा में ऐसे अनेक नाटक मिलते हैं जिनका प्रकाशन नहीं हुआ है, केवल नाट्य मण्डलीयों के द्वारा समय-समय पर मंचित किये जाते हैं। नौटंकी, विदेशिया आदि के अतिरिक्त भोजपुरी के अनेक छोटे-छोटे नाटक विभिन्न अवसरों पर या नृत्य आदि के आयोजन के मध्य कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। भोजपुरी के इन नाटकों में सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक समस्याओं की प्रधानता रहती है। समाज में फैली नाना प्रकार की कुरीतियाँ आज भी मौजूद हैं। इन कुरीतियों को दूर करने के लिए हम राष्ट्रीय स्तर पर नाना प्रकार के प्रयास करते हैं।² भोजपुरी लोक नाटककारों ने इन समस्याओं की ओर ध्यान

दिया है। भिखारी ठाकुर भोजपुरी के अत्यन्त समर्थ नाटककार हैं। उनका विदेशिया नाटक अत्यधिक सफल और लोकप्रिय नाटक है। भिखारी ठाकुर एक सफल अभिनेता भी थे। विदेशिया नाटक में सामाजिक बुराईयों पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें बूढ़े का विवाह, दहेज की कुप्रथा जैसी अनेक समस्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। अनमेल विवाह और दहेज प्रथा आज राष्ट्र की प्रमुख समस्याओं में से एक है। इस संबंध में भिखारी ठाकुर ने लोकमंत्र से एक चेतना जागृत करने का प्रयास किया है। आज भारत में विवाह की समस्या इतनी जटिल हो गयी है कि गरीबों की लड़कियों का धनाभाव के कारण शिक्षित और सुन्दर होने के बावजूद सुयोग्य वर नहीं मिलने पर अनमेल विवाह करने के लिए कन्या पक्ष विवश हो रहा है। इस प्रकार की ज्वलंत समस्या को राष्ट्रीय संदर्भ में प्रस्तुत करने का श्रेय भिखारी ठाकुर को जाता है। विदेशिया नाटक इतना प्रभावशाली और मंचीय दृष्टि से इतना सफल भोजपुरी नाटक है कि भीड़ को संभालना कठिन हो जाता है। इस नाटक में हास्य रस की प्रधानता है तथा ग्राम्य दोष भी मिलता है, परन्तु इस नाटक का राष्ट्रीय संदर्भ और उद्देश्य संस्कृति से जुड़ा हुआ है।³

भोजपुरी के दूसरे नाटककार राहुल सांकृत्यायन ने आजादी से पूर्व आठ नाटकों की रचना की है- 1. नईकी दुनिया, 2. दुनमुन नेता, 3. मेहरारून के दूरदशा, 4. जोंक, 5. ई हमार लड़ाई, 6. देशरक्षक, 7. जपनिया राछज 8. जरमनवा के हार निश्चय।

राहुल जी साम्यवादी विचारधार के नाटककार थे। ‘नईकी दुनिया’ में इन्होंने जाति-पाँति और ऊँच-नीच का भेद समाप्त करके सबको सहभोजी और जाति बँधन तोड़कर शादी करने की वकालत की है। साम्यवादी विचारधारा के कारण आपने इस नाटक में कहीं-कहीं गाँधी जी की वकालत की है। साम्यवादी विचारधारा के कारण आपने इस नाटक में कहीं-कहीं गाँधी जी की विचारधारा को भी खारिज कर दिया है। यह सत्य है कि भारत जाति-पाँति एवं छुआछूत की भावना से ग्रस्त होने

के कारण विभिन्न क्षेत्रों में पिछड़ता चला गया और आज भी जाति-पाँति एवं छुआछूत की भावना किसी न किसी रूप में समाज में मौजूद हैं। इस भावना को समाप्त करने के लिए भारत सरकार ने कई योजनाएँ चलाई, फिर भी यह आज भी एक समस्या के रूप में समाज में मौजूद हैं। राहुल जी ने इस राष्ट्रीय समस्या का समाधान मेल-मिलाप एवं ऊँच-नीच की भावना त्यागने में ही भलाई माना है और उसकी अभिव्यक्ति आपने नईकी दुनिया में किया है। नाटक के अंत में आपने रूस के कम्युनिस्ट के इण्टरनेशनल गीत का भोजपुरी अनुवाद प्रस्तुत किया है- “उठू-उठू रे तें मुखबन्हुआ, ठठुरे धरती के अभगवा ॥बा-न्याव बजर घहरावत, जनमत बढ़िया संसरवा ॥ पुरुबिज फेनु नहीं शन्हीं, उठुरे अब नहीं ते बन्हुआ ॥नई नैव उठत बा जगवा, ना रहलैं अब सब होइवे ॥आ जुटहु संघतिया समुझे, ई आखिर बेर लड़इया ॥”⁴

आज के राजनेताओं पर राहुल जी का दूसरा नाटक ‘दुनमुन नेता’ है जिसमें कांग्रेस नेता दुनमुन सिंह सिद्धान्त विहीन व्यक्ति हैं। वोट माँगते समय वे किसानों और मजदूरों का पक्ष लेकर वोट बटोर लेते हैं, किन्तु जीतने के बाद वे जमींदारों एवं पूँजीपतियों का पक्ष लेने लगते हैं। आज हमारे राष्ट्र के सामने राजनीति की यह समस्या बहुत भयंकर रूप ले चुकी है। पार्टी बदलना, अपने सिद्धान्तों से मुकर जाना, कथनी और करनी में अन्तर आज के नेताओं की प्रमुख विशेषता है, जो राष्ट्रहित में कदापि फलदायी नहीं है। आज विभिन्न पार्टियों के नेता चुनाव के समय वोट प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के वादे और आश्वासन देते हैं परन्तु जीतने के बाद या सत्तासीन होने के बाद नीतियों से हटकर स्वार्थ सिद्धि में लिप्त हो जाते हैं। फलस्वरूप देश की राजनीति निरन्तर प्रदूषित होती जा रही है और इसका परिणाम सम्पूर्ण देश को भुगतना पड़ रहा है। आपने इस नाटक के माध्यम से नेताओं के गिरते चरित्र का एक संक्षिप्त परिचय दिया है और बहुत पहले ही देशवासियों को सावधान कर दिया है कि ऐसे दुनमुन नेताओं से समाज या राष्ट्र का हित नहीं हो सकता।⁵

राहुल जी का तीसरा नाटक-मेहरारून के दूरदशा है। भारत में स्त्रियों की दुर्दशा प्राचीन काल से चली आ रही है। युगों से पुरुष जाति ने स्त्रियों पर जो अत्याचार किए हैं, उसका सुन्दर चित्रण इस नाटक में किया गया है। आज नारी समस्या भी हमारे राष्ट्र की राष्ट्रीय समस्या है और इस समस्या का समाधान निकालने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर अनेक प्रयास किए जा रहे हैं। इस नाटक में सीता के निम्नलिखित कथन पर अनेक बातों की पुष्टि हो जाती है कि नारी समाज ही सबसे शोषित और पीड़ित है।

‘देखा नु हमार माई बाबूजी से कम नानु खटैले। बाबू जी दस बजे से चारि बजे ले छ घंटा इसकूल में पढ़ावे जालें, माई दु घड़ी रात रहे ले तबे से उठि के आधी रात ले रसोई, चौका-वासन, कूटल-पीसल, केतना काम करते रहैले, बाकी बाबूजी के छ घंटा पढ़ावल काम समुझल जाला, माई के अठारह घंटा खटल कौनो गिनती में ना हवै।’⁶

इसी प्रकार ‘जोंक’ नामक नाटक में समाज के शोषितों, जमींदार, साहूकार, राजा-महाराजा की पोल खोली गई है। वही गरीब किसानों की वास्तविक दशा का भी चित्रण हुआ है। ‘देश रक्षक’ नामक नाटक में राष्ट्र की सुरक्षा करने वाले जवानों का वर्णन है। इसी प्रकार उनके अन्य नाटक भी राष्ट्रीय सन्दर्भों से जुड़े हुए हैं। आज हमारे राष्ट्र के सामने दहेजप्रथा, ऊँच-नीच राजनेताओं का दोहरा चरित्र, शोषण, नारी समस्याएं आदि प्रमुख रूप से रेखांकित की जा सकती हैं। इन समस्याओं पर भोजपुरी नाटककारों ने गहन चिन्तन और मनन किया है। फलस्वरूप अपनी माटी की बोली में भोजपुरी परिवेश में तथा राष्ट्रीय संदर्भ में अपने विचारों को प्रस्तुत किया है।⁷ अतः हम कह सकते हैं कि भोजपुरी लोकनाटकों में राष्ट्रीय संस्कृति विशेष रूप से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त असंख्य ऐसे भोजपुरी लोकनाटक हैं, जिनका कथानक राष्ट्रीय समस्याओं से कहीं न कहीं अवश्य जुड़ा हुआ है। इन नाटकों के अतिरिक्त भोजपुरी क्षेत्र के लोगों का मनोरंजन करने के लिए बानर-भालू, बन्दर का नाच, उनकी कलाकारी भी भोजपुरी संस्कृति की अभिव्यक्ति है।

संदर्भ-

1. भारतीय लोकनाट्य (भूमिका), डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय आवृत्ति 2009 पृ. 9
2. रंगमंच, (त्रैमासिक), (सम्पादक) बलवन्त गार्गी, अक्टूबर-दिसम्बर 1968, पृ. 68
3. सम्मेलन पत्रिका, (सं.) त्रिलोचन पाण्डेय, लोक संस्कृति विशेषांक, वि.सं. 2010, पृ. 82
4. वीणा (मासिक), (सं.) डॉ. विनायक पाण्डेय, अगस्त 1972, पृ. 95
5. लोक साहित्य एवं भोजपुरी लोक साहित्य, डॉ. द्विजराज यादव, नीलकमल प्रकाशन, गोरखपुर, संस्करण 2009-10, पृ. 282
6. वही पृ. 283
7. वही पृ. 284

शोधार्थी-हिन्दी विभाग, मदन मोहन मालवीय पी.जी. कॉलेज, भाटपाररानी, देवरिया

अक्षर अनन्य के साधना का उद्देश्य

गौतम कुमार भारती

हिन्दी साहित्य में कबीर ने जिस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रयास प्रारम्भ किये थे, उसकी पूर्ति अक्षर अनन्य के साहित्य से ही हुई और इस प्रकार ज्ञानमार्गी सिद्धान्तों की पूर्ण अभिव्यक्ति हमें उन्हीं के साहित्य में मिलती है।

अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते-होते पथों की संख्या किस प्रकार बढ़ती चली जा रही थी। सूक्ष्म तत्त्ववाद पर आधारित न होने के कारण वे पथ किसी ऐसी सैद्धान्तिक विचारधारा को प्रवाहित न कर सके, जो स्वयं में पूर्ण हो। साधना प्रणाली का सम्बन्ध काया से स्थापित हो गया था। इन दोनों का परिणाम यह हुआ कि विचारों की गहराई समाप्त हो गई और जाति-पाँति के खण्डन करने, मूर्ति-पूजा का विरोध कर ईश्वर को सर्वव्यापक बतलाने, साधना की बाह्य क्रियाओं यथा-तिलक, केश, माला की निन्दा करने तक ही वैचारिकता की सीमा बन गयी थी। ईश्वर को घट-घट व्यापक कह देने तथा मृग और कस्तूरी का उपमान लेकर अपने ही भीतर उसे खोजने की बात कह देने को ही अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्ववाद का मूल कहा जाना समझा जाने लगा। पण्डितों और मौलवियों को गालियाँ देने तथा वेद-पुराणों की निन्दा करने का भी तात्पर्य यही समझा जाता था कि गालियाँ देने वाला पण्डितों और मौलवियों के प्रत्येक रहस्य का मर्मज्ञ है और वेदों से भी परे है। ज्ञानाश्रयी परम्परा के दो चार कवियों को छोड़कर शेष कवियों ने ज्ञान की बड़ी ऊपरी और उथली बातें कहीं हैं। ज्ञानाश्रयी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाने वाले कबीर के सम्बन्ध में भी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि “कबीरदास ने पौराणिक हिन्दू धर्म के आचार बाहुल्य को ही अधिक लक्ष्य किया था। कोई पूजा या उत्सव उनकी दृष्टि में ज्यादा खटकता था पर उस पूजा या उत्सव के पीछे छिपा हुआ तत्त्ववाद प्रायः ही उनकी दृष्टि में उपस्थित नहीं होता था। मूर्ति की उपासना उनको बुरी लगती थी, पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्तिवाला तत्त्ववाद उन्हें मालूम ही न था। शायद ही

किसी दार्शनिक तत्त्ववाद या पौराणिक रहस्य, व्यवस्था का उल्लेख उनके ग्रन्थ में पाया जाय। वेद पाठ, तीर्थ स्नान, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपसना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबके विरुद्ध कबीरदास ने लिखा है, पर कहीं भी इनकी गूढ़ व्याख्याओं को या उनकी पृष्ठभूमि के तत्त्ववाद को उल्लेख योग्य नहीं समझा, इस प्रकार कबीरदास का पंडित वह पत्राधारी अधकचरा ब्राह्मण है, जो ब्राह्मण मत के अत्यन्त निचले स्तर का नेता है।' केवल कबीर ही नहीं प्रत्युत ज्ञानाश्रयी परम्परा के अधिकांश कवियों की वैचारिकता की यही सीमा रही है। इस परम्परा के साहित्य को देखकर यह कहा जा सकता है कि दो-चार को छोड़कर शेष कवियों के साहित्य में काव्य कला और दार्शनिक विचारधारा की घोर विडम्बना हुई है। ज्ञानाश्रयी साहित्य में ज्ञान का अत्यन्त सामान्य स्तर ही देखने को मिलता है।

अक्षर अनन्य को ज्ञान की यह विडम्बना बुरी प्रकार से खटकी थी और इसे उन्होंने मिथ्या बकवाद से अधिक कुछ नहीं माना। ज्ञान के क्षेत्र में व्याप्त आडम्बर और मिथ्याचार पर भी अनन्य की सूक्ष्म दृष्टि पड़ी थी, अतएव तत्त्ववाद से दूर थोथे ज्ञान कथन की उन्होंने घोर भर्त्सना की है। अविद्या के बकवाद बढ़ने और अविद्या की चर्चाओं के कारण विद्या की हानि होते देख उनके हृदय को गम्भीर आघात पहुँचता था। इस काल में कला और शास्त्र दोनों की ही अपेक्षा की जा रही थी। ब्राह्मण वेद शास्त्रादि एवं पुराणों का अध्ययन ज्ञानार्जन के उद्देश्य से नहीं, प्रत्युत कथा वाचनादि के द्वारा अर्थाजन के उद्देश्य से ही किया करते थे। अर्थ लोभ में कवि छन्द कवित्तों का और गुरु मंत्रों का व्यापार किया करते थे। कला और शास्त्र दोनों की ही इस युग में घोर विडम्बना हो रही थी। अक्षर अनन्य को इस प्रकार के झमेलों में पड़ना ही न था, अतएव इन सब बातों से हटकर वह अपने आसन पर अडिग होकर बैठ गये। समाज में इन कलुषों की उत्पत्ति इसके भी

बहुत समय पूर्व से हो चुकी थी और तुलसी की मर्यान्तक वेदना का भी यही कारण था। कलियुग के कलुषों का जितना अधिक वर्णन तुलसी ने किया उतना कदाचित किसी भी अन्य कवि ने नहीं किया। तुलसी वर्णाश्रम धर्म आदि के कट्टर समर्थक थे, अतएव उनके लिए यह स्वाभाविक ही था इसका दूसरा अप्रत्यक्ष प्रभाव उन पर यह भी पड़ा था कि ब्राह्मणों के अपमानित होने की बात, राम नाम के स्थान पर अलख की चर्चा, शूद्रों का उन्नयन उन्हें बुरी तरह से खटकता था और इस झमेले में तुलसी का ध्यान ज्ञान की विडम्बना की ओर अधिक नहीं गया। इस काल की एक विचित्र स्थिति यह भी थी एक ओर तुलसी शूद्र जाति के व्यक्तियों को तिलक लगाते और भजन पूजन करते देख जल जाते और उस स्थिति को कलियुग का प्रत्यक्ष अवतरण मानते थे तो दूसरी ओर कबीर, रैदास जैसी जातियों के संत ब्राह्मणों के तिलक, छापा, माला आदि को निरा पाखण्ड कहकर उनकी खिल्ली उड़ाते थे। इन सबके बीच सूक्ष्म तत्त्ववाद पर विचार करने का श्रम बहुत ही कम कवियों ने किया।^१

साधना का सम्बन्ध जब काया और मात्र बाह्य क्रियाओं से जुड़ गया तब उसमें अनेक आडम्बरों और पाखण्डों की वृद्धि हो जाना स्वाभाविक ही था। इसके पूर्व ज्ञान की परम्परा ने भी एक विचित्र मोड़ ले लिया था। दर्शनाचार्यों ने ब्रह्म, जीव और जगत तीनों की बारीकियों को इस प्रकार उधेड़ा था कि इन तीनों का नंगा रूप जिज्ञासुओं के समझ उतर आया था। भेद की जो किंचित भूमि अवशिष्ट बनी रही थी वह चिन्तन व विवेक की नींव पर ही आधारित थी। चित्त-अचित्त को भली भाँति समझे बिना इसके सम्बन्ध में बोलने का उस युग में किसी को अधिकार ही न था। यदि कोई अधिकचरा पाण्डित्याभिमानि बोलने का साहस भी करता था तो उसे चारों ओर से विवाद अथवा शास्त्रार्थ के लिए ललकारा जाता था। अपनी नवीन मान्यताओं को सिद्ध न करने या किसी प्रकार की नयी मान्यताएँ न देने की स्थिति में उसे मात्र शिष्य बनने का अधिकार प्राप्त होता था, गुरु बनने का नहीं। इस स्थिति में प्रत्येक साधक कहे जाने वाले व्यक्ति के द्वारा नया पंथ चलाये जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था। धीरे-धीरे यह परम्परा समाप्त हो गयी और चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में तो नया पंथ चलाने का मानो सबको जन्मसिद्ध अधिकार मिल गया था। ज्ञान की मूल भूमिकाओं और उसके सूक्ष्म तत्त्वों के सम्बन्ध में सोचने-विचारने की अब आवश्यकता ही नहीं रही थी और इस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में भी आडम्बर उतरने लगा था। अपने मत के समर्थन में एक शब्द भी कहे

बिना पंडितों, मौलवियों एवं अन्य धर्माचार्यों को पचास गालियाँ दे देने मात्र से पंडित की धाक जम जाती थी। जिस प्रकार तिलक, माला, केश आदि धारण करने से कोई भी व्यक्ति भक्त होने का दावा कर सकता था, उसी प्रकार अब ज्ञान की दो-चार ऊपरी और उथली बातें करने तथा सभी क्रियाओं को एकदम पाखण्ड घोषित कर देने मात्र से कोई भी संतों की श्रेणी में जा बैठता था। इस काल की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी थी कि जनता को अपनी अन्य उलझनों के कारण ज्ञान की बारीक बातों पर विचार करने का अवकाश ही न था और इस प्रकार संत बन जाना भी अब उसी प्रकार सरल हो गया था जिस प्रकार तिलक लगाने और केश रखाने से भक्त बन जाना आसान था। अक्षर अनन्य इसके प्रति लोगों को सचेत करते हुए लिखा था कि इन सबकी बातों में न पड़कर आत्म तत्त्व पर विचार करना चाहिए। अनेक प्रकार की ज्ञात चर्चाएँ करने वालों को उन्होंने 'बकवादी तथा चवाई' कहा है। इसका तात्पर्य यह न समझ लेना चाहिए की अक्षर अनन्य के स्वर समान थे। अक्षर अनन्य ने इसके विपरीत न तो गाली-गलौज में ही अपना समय नष्ट किया और न किसी तत्त्ववाद को समझे बिना उसकी आलोचना ही की। उनकी दृष्टि सबसे अधिक व्याप्त आडम्बरपूर्ण ज्ञानाचार पर ही टिकी थी। लोग मन्त्रादि, चेटकों में और चमत्कारों में सामान्य जनता को भुला दिया करते थे। सिद्धियों की प्राप्ति का प्रलोभन देकर सामान्य बुद्धि व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर स्वार्थ सिद्धि इनका लक्ष्य था। इसके अतिरिक्त सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने भी उस काल के समाज को इस प्रकार जकड़ दिया था कि उन्हें विवश होकर ज्ञान का व्यापार करने हेतु उद्यत होना पड़ता था। उद्यम में फँसकर लोगों को ज्ञान-अज्ञान की सब बातें भूल जानी पड़ी थी। राजाओं को हँसी मज़ाक के द्वारा रिझाना, राज दरबार में रहने वालों का तथा कपट भेष धारण कर भिक्षुक की भाँति घूमते फिरना साधकों का काम था। सबसे बड़ा दोष इस युग का यह था कि उपदेशकों के मन, वचन, कर्म में एकरूपता शेष नहीं रही थी। उनका उद्देश्य धर्म या ज्ञान प्रसार नहीं, प्रत्युत अपने व्यवसाय का प्रसार था। शिष्य भी इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु बनाये जाते थे। अक्षर अनन्य ने इस लोक और परलोक दोनों के लिए हानिकारक कहा है।^१ अक्षर अनन्य के युग में धर्म और ज्ञान की बड़ी बुरी दशा थी। कबीर आदि संतों ने नये पंथ भले ही चला दिये हों किन्तु ज्ञान के प्रसार में

शेष भाग पृ. 51 पर....

नरेन्द्र मोहन का काव्य : नारी संवेदना

सुमन रानी

नरेन्द्र मोहन साठोत्तर हिन्दी कविता के श्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने सामाजिक सम्बद्धता और प्रतिबद्धता को अपनी कविताओं का प्रतिपाद्य बनाया है उनकी कविता में समाज अपनी सम्पूर्णता में व्यक्त हुआ है चाहे व्यक्ति हो या स्त्री, शिशु हो या समाज अथवा नगर/महानगर सभी उनकी कविता में चित्रित हुए हैं। इसी चित्रण को देखकर माना जाता है कि नरेन्द्र मोहन सामाजिक संवेदना के सच्चे प्रेमी हैं।

जिस स्त्री को हमेशा ही हाशिए पर रखा गया, उसी स्त्री से जुड़े चिंतन, विमर्श आज साहित्य के केन्द्र में आ गए हैं। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ-साथ समय की माँग भी है। समय आने पर हर अन्याय का प्रतिकार होता है, एक समय झुकी हुई गर्दन भी तन जाती है। युगों से दासता झेलती नसों में भी प्रतिरोध का स्वर भर उठता है, पर नारी के हित में स्वर उठने में इतना लम्बा समय लगना इस बात का प्रमाण है कि सामंती मानसिकता आज भी अपना यथावत् रूप कायम रखना चाहती है। स्त्री की यौनिकता और श्रम पर नियंत्रण रखने वाला पुरुष प्रधान समाज स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति के रूप में लेता है। बड़े प्यार और दुलार से अर्थात् पितृवत संरक्षण देते हुए स्त्री को अपने अधीन रखने की ऐसी साजिश रची गई, जो आज तक कारगर नज़र आती है। दुखद पहलू तो यह है कि स्त्रियाँ पैदा नहीं होती बनाई जाती हैं। उसके लिए पहले से ही तथाकथित आचार संहिता तैयार है जिसके अन्तर्गत सबकुछ तय है उनका हँसना, बोलना, उठना, बैठना आदि-आदि।

पर अब धीरे-धीरे गुलामी का यह तिलिस्म टूटने लगा है। आज स्त्री भी समानता, स्वतंत्रता, मनुष्यता और सह अस्तित्व जैसे शब्दों एवं उनके मर्म से परिचित हो चुकी है। अब उसकी समझ में आने लगा है कि शोषण के उपकरण कौन-कौन से हैं। आज स्त्री देह की अवधारणा से मुक्त होना चाहती है और हो भी क्यों न आखिर इन्हीं गोपनीय अंगों की

वजह से इन पर अत्याचार भी सबसे ज्यादा हुए हैं।

स्त्री को मनुष्य का दर्जा भी प्राप्त नहीं है और स्त्री अस्मिता की लड़ाई स्त्री को मनुष्य का दर्जा दिलाने की लड़ाई है, जिसकी अभी शुरुआत हुई है।

यही सब भाव नरेन्द्र मोहन के काव्य में शब्दों का रूप ग्रहण करके आए हैं। जिसके लिए उन्होंने संत तुकाराम और उनकी शिष्या बहिणाबाई के प्रसंग को भी काव्य में स्थान देकर यह स्पष्ट करना चाहा है कि 21वीं सदी में प्रवेश कर चुका मानव नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण में आज भी सैकड़ों वर्ष पीछे है। इसी बात को- 'प्रिय-बहिणा' में उन्होंने कुछ इस तरह से कहा है- "हाँ, मैं ही हूँ वह लड़की/अभंग में डूबी बहिणा बाई/सदियाँ फलौंगती गई हूँ/कल से आज तक और आज से"¹

अंतिम अधूरी पंक्ति कवि के साथ-साथ हमारे मन में उठने वाले प्रश्न का साकार रूप प्रतीत होती है क्योंकि आज भी हम नारी के भविष्य को लेकर निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। आज के युग में जब नारी पुरुष से कंधे से कंधे मिलाकर आगे बढ़ रही है तब भी हमेशा की तरह रसोई उसके ही हिस्से में आती है। वह आज भी पारिवारिक दायित्वों से मुक्त नहीं हो पाई है और यही से शुरु होती है नारी की पराधीनता। इससे बाहर निकलने का उसे कोई रास्ता भी नहीं सूझता है- "कोई रास्ता न सूझता मुझे/और मैं बाहरी दुनिया से कटी-टूटी/सुर से बाहर होती जाती/रसोई से कमरे तक/कमरे से रसोई में/एक आदत-सी/आती जाती रहती"²

इसके साथ ही प्रश्न उठता है नारी सुरक्षा का। मगर किसी भी स्तर पर तो हम उसकी सुरक्षा नहीं कर पा रहे हैं। आज भी उसकी देह उसकी सबसे बड़ी दुश्मन बनी हुई है। उसे समाज की कामुक नज़रों का सामना करना पड़ता है और पुरुष रूपी तेंदुआ उसे कुचलने को लालायित रहता है। ऐसे माहौल में उसकी किस सुरक्षा के प्रति आश्वस्त रहा जा सकता

है- “लड़की डरी हुई है/लड़की सहमी हुई है/एक तेंदुआ उसके पीछे पड़ा है/उगलता अंधी खूँखार हंसी”³

ऐसे में अपने को असुरक्षित महसूस करके लड़की का डर जाना स्वाभाविक है। वह फटी आँखों से चारों तरफ सहायता के लिए देखती है परन्तु हमेशा उसे निराशा ही हाथ लगती है- “देखती है/फटी आँखों से चारों तरफ/उसे कुछ नहीं सूझता/सूखे होठों से फुसफुसा रही है- पानी-पानी”⁴

यही निराशा, दिशाहीनता उसके भविष्य के साथ भी जुड़ी हुई है। एक कहावत है ‘जब भगवान एक दरवाज़ा बंद कर देता है तो दूसरा खोल देता है’ परन्तु नारी के बारे में तो लगता है भगवान भी सो गया है क्योंकि एक दरवाज़ा बंद होने पर दूसरा उसे खुलता दिखाई नहीं देता, हमेशा संदेह ही बना रहता है। यही सच है उसके वैवाहिक जीवन का, क्योंकि उसके लिए दूसरे घर में जगह बनाना कठिन होता है- “वह जानती है/कल उसे विदा हो जाना है/एक खुला दरवाज़ा बंद होता पीठ पीछे/एक दरवाज़ा सामने खुलता न खुलता”⁵

इसके साथ ही नरेन्द्र मोहन ने लड़की के विवाह सम्बन्धी मुद्दे को भी उठाया है। वे कहते हैं कि आज भी समाज में अनमेल विवाह का बोलबाला है और लड़की को बेजुबान जानवर की तरह बलि पर चढ़ना ही पड़ता है- “तीस साल बड़े पति के साथ/तू बता, सपने देखूँगी क्या?”⁶

यह भी नारी के दासीय जीवन का हिस्सा है। अनमेल विवाह को लेकर विरोध भी हुए कानून भी बने परन्तु इसकी जड़ें इतनी गहरी थी कि पूरी तरह आज भी हम इस कुप्रथा से मुक्त नहीं हो पाए हैं।

यदि यहाँ यह प्रश्न उठाया जाए कि क्या पुरुष को भी इस अन्याय का सामना करना पड़ता है तो हमें जवाब मिलता है नहीं क्योंकि यह अन्याय तो पुरुष प्रधान समाज ने नारी के हिस्से में बाँट रखा है। वह हमेशा से उसके चारों तरफ रूढ़ियों, परम्पराओं, मर्यादाओं की एक अटूट दीवार खींचे रखता है और उसे उन बँधनों पर नाज करना सिखाता रहता है। आज नारी इन रूढ़ियों और उसके लिए जड़ हो चुकी व्यवस्था से मुक्ति चाहती हैं और अपने आप को समाज का सच्चा हितैषी कहने वाले इसका समर्थन भी करते हैं जिससे उसे कुछ लाभ भी मिला है, परन्तु वास्तव में आज भी नारी के लिए मुक्ति के क्या मापदण्ड हैं वह समझ नहीं पाई है- “मैं नहीं जानती/मुक्ति क्या है?”⁷

क्योंकि उसे स्वतंत्र करने की बात कही जाती है, परन्तु वह भी किसी के अधीन रहकर। चाहे वह पिता, पति, पुत्र, भाई कोई भी हो उसे अपनी ज़िंदगी के हर एक कदम पर

किसी न किसी सहारे की जरूरत होती है। नारी की स्थिति उस अपाहिज की तरह है जिसे चलने के लिए बैसाखियों की जरूरत पड़ती है- “एक आदमी ने ओढ़ ली है/मुक्तिदाता की चादर/लिखा है जिस पर ‘मेरी मान या मर/मेरे पीछे चल’”⁸

पुरुष के अत्याचार सहना, रोना और अपेक्षित जीवन जीना उसकी नियति बनी हुई है। यह सब उसका भाग्य बन गया नज़र आता है। वह आज भी एक दास की तरह घर में कैद रहती है। पुरुष की इच्छा के विरुद्ध कहीं नहीं जा सकती और यदि वह ऐसा साहस करती तो उसे पुरुष हिंसा का शिकार होना पड़ता है और साथ ही उसके चरित्र पर भी सवाल उठाए जाते हैं- “कहाँ थी अब तक/क्यों लाँधी चौखट/कहाँ है तेरा वह भौंडा गवैया/जिसके पीछे भागती तू घर-बार छोड़/और उस रात उसने मुझे बहुत मारा/लाद दिए मुझ पर दुनिया भर के लाँछन/एक खूँखार बवण्डर में/तिनके-सी उड़ती रही।”⁹

औरत की आशाओं सपनों को दफन करता पुरुष नारी को अपनी निजी धरोहर मानता है। वह यह स्वीकार नहीं कर पाता कि उसकी पत्नी किसी दूसरे पुरुष से बात करे उससे कोई सम्बन्ध स्थापित करे चाहे वह गुरु-शिष्या का सम्बन्ध हो या प्रेम का। यह भाव हमें नरेन्द्र मोहन की दोनों लम्बी कविताओं में देखने को मिलता है। ‘खरगोश चित्र और नीला घोड़ा’ सुचित्रा और सलमान का और तथा प्रिय बहिणा में ‘संत तुकाराम और बहिणा बाई’ का- “कहाँ है तेरा वह भौंडा गवैया/जिसके पीछे भागती तू घर-बार छोड़/आज नहीं छोड़ूँगा/तोड़ूँगा तेरी/और तेरे शुद्र गुरु तुकाराम की टोंगे”¹⁰

ऐसी ही संदेह प्रवृत्ति की स्थिति हमें समाज में हर स्तर पर देखने को मिल जाती है और नारी बेबस हो अपनी गति को रोक देती है क्योंकि पुरुष प्रधान समाज के सामने वह असमर्थ हो जाती है। उसे कुछ भी करने की स्वतंत्रता नहीं है। मुक्ति की जिम्मेदारी भी पुरुष ने अपने ही कंधों पर उठा रखी है- “मुक्ति के नाम पर/उसका एक गिरोह है/रफ्तार में चलता/दूसरों को अपंग और गुलाम बनाता/रूढ़ियों पर फख्र करना सिखाता”¹¹

इन सब स्थितियों के साथ ही नरेन्द्र मोहन नारी की आत्मशक्ति, आत्म-प्रेरणा की बात को भी सामने लाए हैं। वे स्वीकार करते हैं कि नारी के अन्दर एक ऐसी आत्म-प्रेरणा शक्ति है जो जीने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देती रहती है अन्यथा कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो हमेशा उपेक्षा, कष्ट को सहता हुआ जीवन का साथ न छोड़ देगा- “मेरे होने में/मेरे जीने और मरने में/मेरे संतोष और सुख में/मेरे साथ चलती

रहती है एक लड़की/लम्बी सहयात्रा में”¹²

यह आन्तरिक शक्ति जहाँ उसे हर स्थिति में सम्बल प्रदान करती है वहीं सामाजिक अन्याय, अपंगता के विरुद्ध लड़ने की शक्ति हौसला भी देती है। वह अपनी अन्तरात्मा से उद्वेलित होकर ही सामाजिक बँधनों, रूढ़ियों को तोड़ने के लिए विद्रोह कर उठती है- “मैं अपंगता को क्यों धारण करूँ?/गुलामी को क्यों स्वीकारूँ?/गला काटती रूढ़ियों को क्यों न उतार फेंकूँ?”¹³

इस सब के बावजूद भी नारी अपनी दया भावना का त्याग नहीं कर पाती है, वह किसी दूसरे के साथ अन्याय कर स्वयं कुछ नहीं पाना चाहती- “मुझे नहीं चाहिए वैसी मुक्ति/जो दूसरों का गला घोट कर/या उनकी जगह हथिया कर मिलती है।”¹⁴

इतने सब के बाद भी नारी अपने को भाग्य के हाथों का खिलौना ही पाती है क्योंकि उसकी सुरक्षा करने और मुक्ति देने का दावा करने वाला पुरुष और उसका समर्थक समाज ही हर जगह फैला हुआ है। वह चाहकर भी उनकी पहुँच से बाहर नहीं जा पाती।

यह तो नारी जीवन का एक ही पक्ष है। यदि इसके दूसरे पक्षों पर भी नज़र डालते हैं तो समाज का वह सुन्दर और विकासशील दिखाई देता रूप और भी कुरूप हो जाता है। बचपन में लड़की को यह दिखाया जाता है कि वह भी लड़के के समान है। यह शायद विकसित समाज की नकल का परिणाम है और अपने आप को आधुनिक साबित करने का मापदण्ड भी, परन्तु आज तक नारी को कभी भी पुरुष की तरह स्वतंत्रता नहीं दी गई। बराबरी की बात तो कोशों दूर है। उसे हर कदम पर शिक्षा, जीवन साथी चुनने के फैसले पर अपने परिवार की माननी पड़ती है और यदि वह ऐसा नहीं करती तो परिवार और समाज दोनों के विरोध का सामना करना पड़ता है।

‘परम्परा और आधुनिकता’ में कवि इसी बात को स्पष्ट करते नज़र आते हैं- “उसकी लड़की ने/हरिजन के लड़के से शादी कर ली/कोर्ट में/सिर धुन लिया/छाती पीठ ली/उसने/नाक सिकोड़ने की हरकत से/विकृत हो गया उसका चेहरा/एक कीड़ा उसके दिमाग की नसों को/कुतरता रहा/रोबदार पिता हुंकारता रहा/रक्त में”¹⁵

पुरुष को बदचलनी की पूरी छूट है, पर नारी को आज भी पैरों में जूती के समान ही देखना चाहता है। आज भी उसे धर्म, कर्तव्य, परम्परा आदि के नाम पर छला जाता है- “साल-दर साल कई बीत गये/लीक पर चुपचाप चलती रही

/रिश्तों की खोखली रिवायत को झेलती स्वीकारती/दबी-सहमी/सुरक्षा की वेदी पर/फर्ज की आरी से कटती रही/समर्पित, संतप्त और पहचानहीन।”¹⁶

कवि ने नारी सच को उजागर करते हुए ठीक ही कहा है कि 21वीं सदी में प्रवेश कर चुकी मानव जाति आज भी नारी को कभी सुरक्षा, कभी फर्ज के नाम पर बलिदान कर दिया जाता है। आज भी उसके व्यक्तित्व को हमारा समाज अनुभूति की गहराई से स्वीकार नहीं कर पाया है- “तुमने इस चित्र की रूह को पहचाना है/मैंने समझा तुम्हें महज अखबार वाली लड़की”¹⁷

लेकिन आज नारी समाज के इस व्यवहार से रूष्ट हो चुकी है, उसके मन में सवाल हैं आखिर कब तक वह इन परम्परा, मर्यादा के बँधनों में तड़पती रहेगी, उसे स्वतंत्रता मिलेगी या नहीं और समाज आखिर कब तक ऐसी जड़ स्थिति को स्वीकार किये रहेगा- “लेकिन फ्रेम को तोड़कर/बाहर आ रहे इन खरगोशों की/मासूमियत और सहम के बारे में/कब तक चुप रहेंगे, आप”¹⁸

परम्परा को तोड़कर बाहर निकलने को लालायित, स्वतंत्रता के लिए छटपटाती लड़की का सहमना लाजमी है लेकिन वह हिम्मत और उत्साह से तभी आगे बढ़ पाती है जब उसे विश्वास होता है कि वह अकेली नहीं है उसके लिए कोई न कोई सहारा मौजूद है, यदि ऐसा नहीं है तो हौसला डगमगाने लगता है और यदि वह सहारा मिल जाता है तो हम एक नई दुनिया की कल्पना करना शुरू कर देती है- “दी गई दुनिया में से/नयी दुनिया को आकार लेते देखती/हकीकत में से सपना/सपने में से हकीकत”¹⁹

यह प्यार और सहारे का एहसास है जो उसके जीवन को आनन्द से, सपनों से भर देता है। कवि नरेन्द्र मोहन ‘खरगोश चित्र और नीला घोड़ा’ और ‘प्रिय बहिणा’ दोनों ही कविताओं में इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। खरगोश चित्र और नीला घोड़ा में जहाँ सुचित्रा सलमान का साथ पाकर सामाजिक बुराईयों का सामना करने का हौसला पाती है- “झाँकते हैं/एक दूसरे की आँखों में/बचरे को जलाती एक लपट दोनों तरफ”²⁰

परन्तु समाज इस परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाता और परिवर्तन का कारण जानने के लिए बेचैन हो उठते हैं। वे उसे फिर परम्पराओं के चौखटे में कैद करना चाहते हैं जिसके लिए वे उसे आराम से समझाने का प्रयास करते हैं तो न मानने पर उस पर चीखने चिल्लाने लगते हैं- “समझाने की सभी कोशिश बेकार/चीखते-चिल्लाते हैं वे/बवंडर की

तरह उठते हैं वे”²¹

इस भय, आतंक और विरोध के साथ ही आग भी नारी का कभी पीछा नहीं छोड़ती। कहीं सामाजिक तौर पर तो कहीं निजी तौर पर वह आग से जुड़ी है। सामाजिक स्तर वह समाज में होती आगजनी, हत्याकाण्ड आदि की घटनाओं से लहू लुहान होते दृश्यों से जुड़ी है क्योंकि उसमें वह अपना परिवार खोती है तो निजी तौर पर अपना जीवन और अस्तित्व समाप्त होता पाती है।

जहाँ तक आग के साथ नारी के निजी सम्बन्ध की बात है तो हमारी सामाजिक कुप्रथाएँ इन्हें बढ़ावा देती है। दहेज प्रथा, सती प्रथा ऐसी ही कुप्रथाएँ हैं जो हर साल अनेक लड़कियों को अपना ग्रास बना लेती है, परन्तु उनका पेट नहीं भरता। इन कुप्रथाओं पर कानून बन चुके हैं और हम देखते हैं कि सती प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी है परन्तु दहेज प्रथा आज भी अपने धिनौने रूप में मौजूद है। आज दहेज लोभी कहीं खुलेआम तो कहीं लुक-छिप कर दुल्ले के दाम लगाते नज़र आते हैं, जो लड़की दहेज की उनकी माँग को पूरा कर देती है वह ठीक है उसे घर में स्थान मिला रहता है अन्यथा या तो उसे जलाकर मार दिया जाता है या वह खुद को जला देती है और हमारा समाज ऐसी घटनाओं को तमाशा समझ देखता आनन्द में डूबा रहता है- “दूर से आती ‘बचाओ’ की आवाजें/फुसफुसाहट भर रह गयी हैं/करीब खड़े लोग/फटी आँखों देख भी रहे नजारा/अट्टाहस कर रहा/ड्राईंग रूम में कोई”²²

नरेन्द्र मोहन का काव्य सामाजिक रूढ़ियों या नारी दासता का अधूरा सच नहीं है उसमें हमें नारी के उत्साह, संघर्ष और उसकी सफलता का चित्र भी दिखाई देता है। कवि यह मानते हैं कि उसे हर कदम पर पुरुष प्रधान समाज, उसकी परम्पराओं का सामना करना पड़ता है और अक्सर वह सफल भी नहीं हो पाती, परन्तु यदि वह अपने संघर्ष को विराम नहीं देती है तो उसे अपनी राह चुनने की स्वतंत्रता से कोई भी वंचित नहीं रख पाता है- “इस किस्म के लोगों से जूझते-टकराते/ मैं आ खड़ी हूँ/खुले में साँस लेती/बँधी लीक पर नहीं चलना है मुझे/मेरी अपनी राह है/जिस पर चलती हूँ पूरे भरोसे के साथ/मुझे कोई भय नहीं अब”²³

यह सच है कि अपनी राह को चुन लेने के बाद वह निडरता से अपने जीवन की राह पर चलती है परन्तु उस तक पहुँचने के लिए अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। जब उसे चारों तरफ मौत ही मौत नज़र आती है और उसके जीने मरने का प्रश्न उठता है तो वह संघर्ष की राह को ही अपनाता

उचित समझती है- “दोनों तरफ मौत है मेरे लिए/क्यों न जीऊँ-मरूँ धुन के साथ/भय और यातना के अन्तिम छोरों को छू लेने/और मृत्यु को करीब से देख लेने के बाद/मैंने भय और मृत्यु से/युगों की दासता से/मुक्ति पाई है”²⁴

इस संघर्ष के बाद वह आनन्दमयी और जीवन्त, स्वतंत्र परिवेश अपने लिए प्राप्त कर पाती है। वह संघर्ष से अपनी खोई हुई पहचान पाकर उसे ऊँचाई तक ले जाती है- “स्वाधीन होने का साक्षी?/हाँ, देखो जरा/अंधेरा सुलगने लगा है/सुरंग में रंगों की बौछार होने लगी है/ध्वनित होने लगा है अकथ/नाद में, शब्द में, स्वर लय-ताल में/भूला हुआ सुर, खोया हुआ शब्द/मेरे गिर्द मंडराने लगा है/और मैं देख रही हूँ-/सच के दर्पण में छवियाँ अनन्त”²⁵

अतः कह सकते हैं कि नरेन्द्र मोहन जहाँ एक ओर नारी को सामाजिक कुप्रथाओं और परम्पराओं में जकड़ा हुआ और उनसे संघर्ष करता पाता है वहीं इसके आधुनिकता के नाम पर छला जाने का भी वर्णन करते हैं। वे उसके संघर्ष, सफलता को वाणी देते हुए उसे प्रेरणास्त्रोत भी स्वीकारते हैं।

संदर्भ-

1. नरेन्द्र मोहन रचनावली, खण्ड-1, प्रिय-बहिणा, पृ. 430
2. वही, पृ. 436
3. वही, लड़की हरी हुई है, पृ. 320
4. वही, पृ. 320
5. वही, पृ. 322
6. प्रिय-बहिणा, पृ. 431
7. वही, पृ. 437
8. वही, पृ. 437
9. वही, पृ. 437
10. वही, पृ. 437
11. वही, पृ. 438
12. वही, पृ. 430-431
13. वही, पृ. 438
14. वही, पृ. 438
15. वही, परम्परा : आधुनिकता, पृ. 107
16. वही, प्रिय-बहिणा, पृ. 339
17. वही, खरगोश चित्र और नीला घोड़ा, पृ. 341
18. वही, पृ. 340
19. प्रिय-बहिणा, पृ. 343
20. खरगोश चित्र और नीला घोड़ा, पृ. 352
21. वही, पृ. 344
22. वही, पृ. 350
23. प्रिय-बहिणा, पृ. 439-40
24. वही, पृ. 439-40
25. वही, पृ. 440-41

मकान नं. 1325, सेक्टर-2, रोहतक (हरियाणा)

कविवर उदयभानु हंस का काव्य : मानवतावादी दृष्टिकोण

लक्ष्मी शर्मा

कविवर उदयभानु हंस बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न रचनाकार है। उन्होंने अपनी इस बहुमुखी-बहुरंगी प्रतिभा से साहित्य की विभिन्न विधाओं को रंगिमा प्रदान की है, लेकिन इनमें सर्वाधिक चटक रंग कविता पर चढ़ाया है। उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा से काव्य की अनेक विधाओं को समृद्ध किया है। 2 अगस्त 1926 को दायरा दीन पनाह, जिला मुजफ्फरगढ़ (मुलतान), पंजाब (वर्तमान पाकिस्तान) में सारस्वत ब्राह्मण पंडित विश्वनाथ शर्मा के जन्में उदयभानु हंस ने महाकाव्य हो या वृत्तकाव्य, गीत हो या गज़ल, रूबाई, मुक्तक हो या श्लोक-सब में काव्य सर्जना करके हंस जी ने अपनी अकुण्ठ काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। हंस जी को ऐसी अप्रतिहत साहित्यिक गति को भावित करके हरियाणा सरकार ने उन्हें प्रथम राज्यकवि का गौरवपूर्ण पद प्रदान कर सम्मानित किया।

उदयभानु हंस की कविता के अनेक विषय है। उन्होंने जिस प्रकार अपनी रचनाओं में कविता की विविध विधाओं का विनियोग किया है, उसी तरह उन्होंने उसमें नाना भावों एवं नाना विचारों को भी पिरोया है। उनकी सर्जना में इन्द्रधनुष जैसी अनुरंजनी रंगिमा विद्यमान है। कहीं शृंगार की सरसता है, तो कहीं प्रणय की प्रांजलता है, कहीं राष्ट्रीय भावना की उद्भावना है तो कहीं मानवीय उत्कर्ष की मंगलकामना है।

हंस जी की प्रमुख काव्य रचनाएँ हैं- हिन्दी रूबाइयाँ (1952), धड़कन (1957), सरगम (1961), सन्त सिपाही (महाकाव्य) 1967, शंख और शहनाई (1976), देसां में देस हरियाणा (1977), हरियाणा गौरव गाथा (1981), कुछ कलियाँ कुछ काँटे (1986), अमृत कलश (1992), वन्दे मातरम् (1992) एवं मयूर पंख (1992)।

हंस जी पारदर्शी और संघर्षधर्मी व्यक्तित्व के स्वामी है। मधुरता, सहजता, उदारता, मिलन सारिता, कलाप्रियता आदि उस अनुपम व्यक्तित्व के कुछ चटक रंग है। इन रंगों को

चटकीला बनाने में उनके जीवन के संघर्षों और संत्रासों की विशेष भूमिका रही है। हंस जी ने परतंत्रता और भारत-विभाजन की गहरी पीड़ा को केवल देखा, सुना ही नहीं, अपितु साक्षात् भोगा भी है। यही कारण है कि हंस जी ने 'कविता पीड़ा की संतान' कहकर अपने भावों को काव्य में उतारा है- कविता पीड़ा की संतान/छुपा हुआ अभिशाप रूप में ईश्वर का वरदान। दीपशिखा सी तिल-तिल जलती/प्रतिपल अंगारों पर चलती/फिर भी अधरों पर रहती है सदा सुरीली तान।'

युग की विसंगतियों, विद्रूपताओं और मर्यादाहीनता की व्यंग्य की प्रखर धार से काट कर स्वस्थ परम्पराओं तथा जीवन-मूल्यों की स्थापना का सर्वोच्च 'कविधर्म' हर पग पर निभाने वाले कविवर 'हंस' मूलतः मानवीय भावों तथा संवेदनाओं के गायक रहे हैं। शब्दों की बेजान और बेड़ौल सीपियों में 'काव्य ब्रह्म के सच्चे उपासक कविवर उदयभानु हंस ने भावों के ऐसे बेजोड़ मोती ढाल दिए हैं, जिनसे रसज्ञ पाठक का हृदय गदगद हो उठता है।

सामाजिक कविता अन्याय के विरुद्ध हर समय तनी रहती है, जिसका परिणाम होता है- एक घाव। सामाजिक कविता इन घावों से ही सजती है। प्रत्येक घाव काव्य की पंक्ति बन जाता है। सामाजिक कविता की सबसे बड़ी पहचान है कि वह सामाजिक जीवन मूल्यों के प्रति ही समर्पित होती है और सच तो यह है कि सत्ता की जिस भेड़िया भूख ने इन जीवन मूल्यों को तोड़ा है उन्होंने वैसा ही अपराध किया है, जैसा अपराध रावण, कंस और दुर्योधन ने किया था, वैसा ही अपराध जो एक दिन हिटलर और हिरण्यकशिपु ने किया था। सामाजिक जीवन मूल्यों के अभाव में इंसान-इंसान नहीं रह जाता। इसी स्थिति पर व्यंग्य करते हुए 'हंस' जी कहते हैं कि आज भेड़ियों को जंगल में मत ढूँढो। आज तो भेड़ियों हर तरफ मौजूद है- अब कभी न जंगल के हिंसक हैवानों से डर लगता है, जितना मुझको अपने युग

के इंसानों से डर लगता है। मैं सदा अमृत के धोखे में पी बैठा हूँ। विष के प्याले, अत्यन्त भयानक होते हैं भोली भाली सूरत वाले। मैं घोर शत्रुओं की भारी चोटों से खौफ नहीं खाता, मुझको तो मित्रों की हलकी मुसकानों से डर लगता है।¹²

आज मनुष्य इतना नंगा और बेशर्म हो चुका है कि उसके चेहरे पर नकाब उपहास जैसा प्रतीत होता है। मनुष्य-मनुष्य का दुश्मन बन बैठा है। मूल्य टूट रहे हैं, मूल प्रवृत्तियाँ नष्ट हो रही हैं। मनुष्य जंगली-जानवर की भाँति खूंखार बनता जा रहा है। इंसान की बुद्धि-वैभव के कितने ही गीत गाये जाएँ, वास्तव में वह जंगली जानवर ही है- नकली यश का मुकुट पहन कर तुम अपनी औकात न भूलो, बन कर सूर्य चमकने वालो, कभी अँधेरी रात न भूलो। कितना जय जयकार कराओ, मालाओं से कंठ सजाओ, जब तक हृदय न तिलक लगाए, वह अभिनन्दन व्यर्थ रहेगा। मन का मैल नहीं धुल सकता गंगा मात्र नहा लेने से, मुँह के दाग नहीं छुपते हैं, दर्पण को गाली देने से। कितनी देवी देव मनाओ, निशिदिन पूजा-पाठ कराओ, जब तक जले न दिल का दीपक सारा पूजन व्यर्थ रहेगा।¹³

हंस जी ने निर्भीक योद्धा की तरह कलम चलायी है। स्वार्थ के लिए वे कलम नहीं बेचेंगे, ऐसा करने वाले लेखकों को वे समाज का दोषी मानते हैं। ऐसे के लिए कलम बेचना कवि की दृष्टि में कला में हत्या है। यदि कोई बुद्धिजीवी राजनेताओं की धुन पर दुम हिलाता है और उसकी नज़रों को पाने के लिए जीवन की कुत्सित व्याख्या करता है तो यह बुद्धिजीवी का पतन है- मैं शब्द का मकरन्द नहीं बेचूँगा, अनुभूति का आनन्द नहीं बेचूँगा। मैं भूख से मर जाऊँगा हँसते-हँसते, रोटी के लिए छन्द नहीं बेचूँगा।¹⁴ तुम लेखक हो तो लेखक का धर्म न बेचो, स्वाभिमान का गौरव कुल की शर्म न बेचो। तुम्हें शपथ है आज निराला महाप्राण की, मर जाओ पर प्रेमचन्द की कलम न बेचो।¹⁵

हंस जी ने पूरे अनुभव के साथ युग की विसंगतियों की अभिव्यक्ति की है। युग के चित्र को वे इस प्रकार अंकित करते हैं कि देश के माथे पर मुकुट बँधा है और दूसरी ओर श्रम तथा साधना विधवा हुई बैठी है, कोयल अपने पंचस्वर पर सिर धुन रही है और अपने अस्तित्व के लिए कौओं की शरण में बैठने को विवश है- दंभ के माथे मुकुट है, साधना की माँग सूनी/कोयलें सिर धुन रही है बैठ कौवों की शरण में। मर रहे हैं सिंह भूखों पर गधों के खीर पकती, मौन धारे आज बैठे हंस बगलों की शरण में।

हंस जी मानवतावादी कवि है। उनके मन में मानव के प्रति असीम और अगाध प्यार है। वे मानव-मानव में किसी

प्रकार का अन्तर नहीं मानते। कवि का मत है कि नर और नारी दोनों ही एक गाड़ी के दो पहिये हैं। नारी प्रकृति का अनुपम वरदान है। वह परमतत्त्व की आदिशक्ति है। इतना ही नहीं वह राधा के प्रणय, उमा के तप और सीता की अचला भक्ति का साक्षात् स्वरूप है- नारी का हृदय एक सुमन होता है, माधुर्य का सौन्दर्य का धन होता है। जिस देश में सम्मान नहीं नारी का/उस देश की संस्कृति का पतन होता है। नारी तो सदा पुरुष की जरूरत है, वह प्रेम तथा प्रेरणा की मूरत है। बेशक वो देखने में मनुजा है मगर/लक्ष्मी, उमा, सरस्वती की मूरत है।¹⁶

हंस जी सब संस्कृति की सूत्रधारिणी नारी पर हो रहे अत्याचारों को देखते हैं, उसके माधुर्य और सौन्दर्य को कुचले जाते हुए देखते हैं, तब उनका स्वभावतः शान्त-प्रशान्त चित्त उद्वेलित हो उठता है और वे नारी की दुनिया का अपमान करने वाले जग को भस्म करने के लिए आह्वान करते हैं।

हंस जी मानवता के पक्षधर हैं और शोषित-पीड़ित मानव के पक्षधर। अभिशप्त और तप्त, शोषित और पीड़ित व्यक्तियों के लिए उनके मन में धनीभूत करुणा है। विश्व मानवता और विश्व बंधुता कविश्री हंस के मानवीय प्रेम की परम परिणति है- भेदभाव का मैं न कभी व्यवहार करता हूँ/मैं मानव हूँ, हर मानव से प्यार करता हूँ। मैंने हर बेबस आँसू की नंगी लाश ढकी, हर बुझते दीपक को अपना स्नेह लुटाया है। मोती चुन लाया मैं तो हर खारे सागर से, हर पीड़ा को बोकर मैंने गीत उगाया है। मुझे नहीं रहती केवल अपने तन की चिन्ता/मैं तो हर घायल मन का उपचार करता हूँ। मुझे बड़ा विस्मय होता, जब चंचल चिंगारी/कहीं जलाती दीप, कहीं पर आग लगाती है। मुझे फूल से मोह और काँटों से द्वेष नहीं, मैं तो सारे उपवन का शृंगार करता हूँ।¹⁷

भारतीय नैतिक मूल्यों का संरक्षण हम हंस काव्य में प्रमुख रूप से देखते हैं। ये नैतिकता के सहज प्रहरी कहे जा सकते हैं। ये उन सभी तत्त्वों के संरक्षक हैं जिनमें नैतिकता का विकास होता है। वे नैतिकता का द्यस होते देख व्यग्र हो उठते हैं। समाज में गिरते नैतिक मूल्यों को देखकर उनका हृदय दुःख से व्याकुल हो उठता है- नई सभ्यता देख हृदय भर आता है, टूटा जीवन का चरित्र से नाता है। राधा नंगी आज क्लबों में नाच रही/कृष्ण नशे में फिल्मी गाने गाता है। अब तो संत-महंत तिजोरी भरते हैं। किन्तु गृहस्थी घर में भूखे मरते हैं। चतुर पुजारी दान-दक्षिणा की खातिर/अपने आदर्शों का सौदा करते हैं।¹⁸

आज हमारी संस्कृति, धर्म, नैतिक मूल्यों का जो द्यस हो रहा है उसे देखकर कवि हृदय दुःखी हो उठता है। हंस का

मुख्य गुण ही नीर-क्षीर विवेक है। जो भी दोष-दुर्गुण दिखाई देते हैं कवि उन पर अपनी स्पष्ट बेबाक लेखनी चलाता है। स्थान-स्थान पर भारतीय संस्कृति के प्रति कवि का अनुराग दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति की विशेषता है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का होना। कवि न केवल देश में अमन-चैन की कामना करता है अपितु वह विश्व शांति की पुरजोर वकालत करता है- तुम न संसार को शमशान बनाना सीखो, बल्कि अभिशाप को वरदान बनाना सीखो। चाँद तारों को नया लक्ष्य बनाने वालो, पहले इंसान को इंसान बनाना सीखो। कैसे करोगे दिल के तथा प्यार के टुकड़े? शीतल मधुर बयार के, जलधार के टुकड़े? ऐ विश्व को टुकड़ों में सदा देखने वालो! तुम मत करो मनुष्य के परिवार के टुकड़े।⁹

कवि हंस वास्तव में नैतिक मूल्यों, जीवन मूल्यों के जागयक प्रहरी है। उनकी कविता नैतिक मूल्यों-जीवन मूल्यों की कविता है। हंस जी जहाँ-जहाँ इन मूल्यों पर आघात होते हुए देखते हैं, उन्हें टुकड़े-टुकड़े टूटते देखते हैं, वहाँ-वहाँ के क्षुब्ध व्याकुल हो उठते हैं। उनके क्षोभ का कारण यह है कि परिवेश चाहे जितना बदल जाये, युग चाहे जितनी करवटें ले ले, विज्ञान का उत्कर्ष चाहे जितना हो जाये, लेकिन मूल्यों की महिमा-गरिमा कम नहीं हो सकती। आज भय, घृणा, आक्रोश, क्षोभ, विषमता का वातावरण है, गोरे मुख पर राजनीति की चेचक फूटी है, आदर्शों के ताजमहल में मानवता की लाश रखी है- कवि ने आज के दिखावटी धर्म के आडम्बर को व्यक्त हुए स्पष्ट किया है कि अनीति ने धर्म को कैसे विकृत कर डाला है- आज धर्म के गोरे मुख पर राजनीति की चेचक फूटी, लक्ष्मी का दर्शन करते ही पंडित से रामायण छूटी। मैं तो अपने मन-मंदिर में उनकी चरण-धूल पूजूँगा, मानवता की सेवा जिनका मजहब है, व्यापार नहीं है। सारे जीवन-मूल्य झुलसते आज स्वार्थ के दावानल में, मानवता की लाश रखी है आदर्शों के ताजमहल में। मैं उनकी जिंदगी के लिए स्वयं मौत से जूझ पड़ूँगा, जिन की साँस मिली है लेकिन जीने का अधिकार नहीं है।¹⁰

कवि की कविता चंद रोमांटिक जवानों के हलके-फुलके मनोरंजन का साधन नहीं है। वह तो सामाजिक, नैतिक और धार्मिक क्रांति का बीज बोती है और नैतिक जागृति का कारण बनती है। क्रांतिकारी विचारों की संवाहिका है, उनकी कविता के माध्यम से समाज प्रभावित होता है। नैतिक जागृति के सांस्कृतिक आन्दोलन में उनकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। हंस की कविता उनके क्रांतिकारी विचार-प्रसार का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। कवि युग का निर्माता होता है। समाज

के प्रति उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यही कर्तव्य-बोध उन्हें काव्य सृजन को प्रेरित करता है। आज युवा पीढ़ी हताशा, कुंठा और किंकर्तव्यमूढ़ता के कठिन दौर से गुज़र रही है। वह जिस चौराहे पर खड़ी है वहाँ घुण अंधेरा है। उजाले की कोई किरण दूर तक दिखाई नहीं दे रही है। जाये तो जाये कहाँ? यही कुंठा यौवन और प्रतिभा को खंडित कर उनके जीवन की समरसता में विष घोल रही है कवि ने यह दर्द इन पंक्तियों के माध्यम से व्यक्त किया है- सिसक रही है क्वारी मेंहदी लोक-लाज की दीवारों में, मंगल-सूत्र जवानी का है आज बिकाऊ बाजारों में। कितनी शहनाई बजवाओ, पंडित जी से मंत्र पढ़ाओ, जब तक हृदय न फेरे डाले, वह गठ-बन्धन व्यर्थ रहेगा। दिशा खोजती भटक रही है व्याकुल धरती दूर गगन में, मानव आज मशीन बन गया है, संगीत नहीं जीवन में। चाहे चन्द्र लोक पर जाओ, मंगल ग्रह पर ध्वज फहराओ। जब तक बजे न हृदय बांसुरी वह वृंदावन व्यर्थ रहेगा।¹¹

कवि समाज में रहकर सहयोग, भाईचारा, सहिष्णुता तथा पारस्परिक सौहार्द जैसे जीवन-मूल्यों के प्रति विशेष रूप से समर्पित रहा है। कवि को पूरा विश्वास है कि दिन दूर नहीं जब समाज में फैली सारी विषमताएँ देते हुए कहता है कि- माना दुख का अन्त नहीं है, सुख का मधुर बसंत नहीं है, आपस में यदि दर्द बांट ले, बोझ हृदय का कम हो जाए। हर आँसू शबनम हो जाए। कालकूट विष भरा हुआ है जीवन की स्वर्णिम गागर में, मानवता प्यासी मरती है सपनों के खारे सागर में। परदेशी बन गया संवेरा, अनचाहा मेहमान अंधेरा, मन को अगर प्रकाशित कर ले, हर मावस पूनम हो जाए।¹²

कविवर हंस ने अपनी 'उदबोधन' शीर्षक कविता में आज सामाजिक जीवन मूल्यों में आयी विसंगतियों के प्रति अपनी वितृष्णा एवं आक्रोश को व्यक्त किया है। देश के जवानों को सम्बोधित करते हुए कवि समाज के लिए घातक बनी दहेज की कुप्रथा के प्रति, भ्रष्टाचार, पाखण्ड और सबसे बढ़कर आतंकवाद जैसी बुराइयों के प्रति सजग करता है। कवि के शब्दों में ओज और प्रेरणा का जो अमृत है वह इस रचना को अमर बना देता है- नगर-नगर में गाँव-गाँव में फैल रहा आतंक, मानवता के हत्यारे अब फिरते हैं निःशंक। असमंजस में व्यापारी, चिन्तित मजदूर किसान, चूल्हे ठंडे पड़े रात दिन जलता है शमशान। व्यक्ति स्वार्थ का कीड़ा है तो दीमक लगा समाज, सम्बन्धों को नष्ट कर रहे घातक रीति-रिवाज। है दहेज की बलिवेदी पर भस्म हो रही नारी,

मधुर प्यार की बगिया में है फूट पड़ी चिंगारी। उठो जवानों! देश के लिए हो जाओ तैयार, गुँज उठे फिर जग भर में भारत का जय जयकार। आज समय की कठिन चुनौती तुम कर लो स्वीकार।¹³

कवि का स्पष्ट चिन्तन है कि समाज जीवन की वह धारा है जो अधिकार और कर्तव्य के शाश्वत किनारों के बीच बहती आई है, लेकिन आज स्वार्थ में खोया मनुष्य जब अधिकारों के लिए चीखता है और कर्तव्यों के प्रति पूर्णतः उदासीन रहता है तो कैसे सामाजिक जीवन-मूल्यों की रक्षा सम्भव है? 'कर्तव्यों से जुड़े हुए अधिकार है। दोनों ही जीवन वीणा के तार है। जले नहीं दीपक तो कहाँ प्रकाश है? पंखहीन के लिए व्यर्थ आकाश है। संयम को पाखण्ड समझना भूल है, अनुशासन को दण्ड समझना भूल है। भूल सर्वथा कर्तव्यों की भावना, करते हैं जो अधिकारों की कामना। उन में और वन्य पशु में अन्तर नहीं, स्वार्थी मानव तो पृथ्वी पर भार है।¹⁴

कवि ने सामाजिक जीवन मूल्यों के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए समाज में चेतना का स्वर फूँका है। जीवन मूल्यों के प्रति गहन आस्था कवि को महत्त्व प्रदान करती हैं। कवि ने सामाजिक जीवन में फैली हुई मर्यादाहीनता और अनास्था जैसी प्रवृत्तियों को समाज से हटा कर नव निर्माण का स्वप्न संजोया है। कवि का काव्य केवल पीड़ा की अभिव्यक्ति ही नहीं अपितु जन-जागरण का संदेश भी देता है- घिर रही है रात काली/ज्यों भयंकर क्रुद्ध व्याली। है घुमड़ते मेघ/चारों ओर से घन-घोर/करते शोर। कौन जाने? कब किसी बंदूक से/गोली निकल कर आग उगले, जो जला कर राख कर दे/फूल की मुस्कान/बरबस छीन ले। अब रोक दो/विध्वंसकारी यह अकारण घृणा का तूफान। पूर्वजों की मूल्यवान परम्परा को/तुम बचा लो। तुम उठो आगे बढ़ो/अब इस चुनौती को करो स्वीकार। है तुम्हारे हाथ में/युग के भविष्यत् की सुनहरी डोर। अब समूचे राष्ट्र की आँखें/लगी हैं बस तुम्हारी ओर।¹⁵

धार्मिक-सामाजिक मूल्यों की उद्भावना के साथ कवि हंस ने आर्थिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक मूल्यों की भी अभ्यर्थना की है। सांस्कृतिक मूल्यों से प्रभावित होकर हंस जी सन्तों का बाना धारण कर लेते हैं और उन्हें वह सब मिथ्या प्रतीत होने लगता है जो बहुत सारे लोगों को सत्य लगता है। हमारी प्रकृत सांस्कृतिक अवधारणा-मन की निर्मलता प्रेम की प्रगाढ़ता को भावित करके हंस जी निर्भ्रान्त शब्दों में यह स्थापित करते हैं गंगा के नहाने से, पूजा पाठ करने से, देवी-देवता मनाने से मन निर्मल नहीं हो सकता है। यह तो तब निर्मल होगा जब मन की मैल दूर होगी, मन-मन मिलकर एक होंगे- अलग

सभी के पूजा घर हैं, अलग धर्म ईमान हैं, लेकिन मेरा मन्दिर-मस्जिद प्यारा हिन्दुस्तान है।¹⁶

समाज में फैले छुआछूत, भेदभाव और आंडम्बरों को देखकर कवि मन बेचैन हो उठता है। मन्दिर-मस्जिद के झगड़े को देखकर लगता है कि आज ईश्वर घर से बेघर हो गया है। धार्मिक भेदभाव उनके लिए अधर्म है, क्योंकि धर्म का अर्थ एकमात्र प्रेम है और प्रेमियों की कोई जात-बिरादरी नहीं होती। पूजा-पाठ, मंदिर, मस्जिद, गीता, कुरान का मतलब केवली दीन-दुखियों की सेवा है। गरीब की झोपड़ी ही उनके लिए शिवालय है- श्रम का भूखा पेट कहीं लँगड़ाता दर्द मिले, मैं सब की पग-धूल उठाकर तिलक लगाता हूँ। अपना भाग्य टटोल रहे जो अँधियारे पथ में, उन हाथों को किरणों का कंगन पहनाता हूँ।¹⁷

अतः कहा जा सकता है कि कविवर उदयभानु हंस की कविताओं में, सहजता, सरलता और स्पष्टता है, रागात्मक अनुभूतियाँ है, प्रेरक संदेश है। कवि 'हंस' सरलता की मूर्ति हैं, पर वह सरलता जिसमें देशद्रोहियों, आडम्बर करने वालों, जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों के प्रति एक फुंकार सदा जागृत रहती है। वे दृष्टा भी हैं और सृष्टा भी। निःसंदेह कवि का काव्य अथक् लगान और बाँधाओं के बीच आशा का, उम्मीद का, संदेश देता है।

संदर्भ-

1. (सं.) डॉ. रामसजन पाण्डेय, उदयभानु हंस रचनावली-1, अमृत कलश, पृ. 437
2. वही, सरगम, पृ. 389
3. वही, अमृत कलश, पृ. 419
4. वही, हिन्दू रूबाइयाँ, पृ. 80
5. वही, हंस-मुक्तावली, पृ. 175
6. वही, हिन्दू रूबाइयाँ, पृ. 138
7. वही, सरगम, पृ. 403
8. वही, अमृत कलश, पृ. 457
9. वही, हंस मुक्तावली, पृ. 170
10. वही, अमृत कलश, पृ. 421
11. वही, पृ. 419-420
12. वही, पृ. 430
13. वही, पृ. 476
14. वही, पृ. 478
15. वही, पृ. 489-490
16. वही, वन्देमातरम्, पृ. 506
17. वही, सरगम, पृ. 403

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

नागार्जुन की लोक चेतना

सौरभ कुमार

‘लोक’ शब्द अत्यन्त प्राचीन एवं व्यापक अर्थ का द्योतक है। यह शब्द आर्य ग्रन्थों से लेकर अब तक अपनी महत्ता बनाए हुए है। ‘लोक’ शब्द के हिन्दी-अंग्रेज़ी में व्यापक अर्थ दिये हैं- “वर्ल्ड, युनिवर्स, ग्लोब, पीपल, तैन और ह्यूमैनिटी, साथ ही इसके हिन्दी रूपान्तर-संसार, विश्व भुवन, जग, जगत्, जन, मनुष्य, समुदाय, समात और प्राणी दिये हैं।”¹ इसी प्रकार नामवर सिंह ने भी ‘आधुनिक हिन्दी-कविता : लोक चेतना और लोक मंगल’ पर दिये विस्तृत वक्तव्य में ‘पब्लिक’ शब्द की ‘लोक’ शब्द के रूप में उपयुक्ता सिद्ध की है- “पब्लिक शब्द के अतिरिक्त लोक-शब्द के वजन का अंग्रेज़ी में कोई शब्द नहीं है। इसी तरह फ़ादर कामिल बुल्के भी ‘पब्लिक’ शब्द को ही लोक का समानार्थी शब्द मानते हैं।”² लोक का अर्थ सभी साधारण जन-समुदाय समझा जाना उपयुक्त है। इसी साधारण जनता के अधिकारों के प्रति, उन्हें न्याय दिलाने के लिए कवि नागार्जुन मुखर रूप में अपनी कविताओं के माध्यम से लोगों के ऐसे रूपों को व्याख्यायित करते हैं, जिन्हें पढ़कर कोई पाठक उन बातों को स्पष्ट अपनी आँखों के सामने होता अनुभव कर सकता है। यथार्थ और सटीक चित्रों को नागार्जुन ने अपनी कविताओं में उकेरा है। नागार्जुन एक सामान्य व्यक्ति थे, उन्होंने समाज के यथार्थ को अपनी आँखों से देखा ही नहीं बल्कि उसे भोगा भी है। इन्होंने अपने जीवन में जिन संघर्षों का सामना किया, उन संघर्षों ने इन्हें तपाकर कुन्दन का रूप प्रदान कर दिया था, इसीलिए वे साधारण जनता के दुःख को अपना दुःख समझकर उनकी सहायता के लिए हमेशा तैयार रहते थे। नागार्जुन ने अपने जीवन में होने वाली सभी हलचलों, समस्याओं तथा परिस्थितियों को प्रत्यक्ष रूप में देखा और भोगा, इसी कारण वे लोगों को लेकर गम्भीरता से चिन्तन कर सके और उनकी स्थिति को अपनी कविताओं में व्याख्यायित कर सके।

कवि नागार्जुन की कविताएँ लोक चेतना के साथ लिखी गई हैं। लोक सत्य के नग्न चित्र, अन्याय, हिंसा, दमन,

प्रताड़ना, लूट, शोषण आदि का चित्रण इन्होंने अपनी कविताओं में किया है। रिक्शा चलाने वाले के खुरदरे पैरों को, गंगा में पैसा डूँढ़ते नंग-धड़ंग छोकरी को, माघ के ठिठुरन के बीच गठरी बने हुए मजदूर को, स्कूली मास्टर की दयनीय स्थिति, हरिजन की दुरावस्था को, मजदूर किसान की गरीबी को आदि इन सब को नागार्जुन ने अपनी कविताओं का आधार बनाया है। इसी अर्थ में नागार्जुन को समाज केन्द्रित, लोक केन्द्रित, मानव केन्द्रित और जनता का कवि और जनता के लिए कवि कहना समीचीन होगा। नागार्जुन ने कल्पना में लोक-जीवन का चित्रण नहीं किया है बल्कि अपने आस-पास के लोगों से ही विषयों को उठाया है। फिर चाहे प्रकृति चित्रण की कविता हो, प्रेमपरक रचना हो या राजनीतिक-सामाजिक विद्रूपताओं पर गहरा प्रहार करने वाली कविता हो, इनकी सभी कविताओं में लोक-चेतना रची-बसी मिलेगी। रामविलास शर्मा के शब्दों में कहें तो- “नागार्जुन ने लोकप्रियता और कलात्मक सौन्दर्य के संतुलन और सामंजस्य की समस्या को जितनी सफलता से हल किया है, उतनी सफलता से बहुत कम कवि-हिंदी से भिन्न भाषाओं में भी-हल कर पाए हैं।”³ जो कलात्मकता नागार्जुन में पाई जाती है वो अन्य किसी कवि में मिलना मुश्किल है। उन्होंने अपनी कविताओं का स्वर साधारण लोगों के हित के लिए उठाया, जिसमें उन्हें ख्याति मिली है।

नागार्जुन की संवेदना का केन्द्र बिन्दु उनका अपना ही गाँव है, जहाँ से उनकी चेतना का आरम्भ होता है, वे अपने गाँव से शहर और शहर से गाँव की ओर की आवाजाही की निरन्तर प्रक्रिया को भूल नहीं पाता है, क्योंकि कृषक-जीवन और शहर के मजदूर वर्ग के प्रति उनकी गहरी दिलचस्पी रही है। गाँव से किसान रोजी-रोटी मिलने के लिए शहर की ओर पलायन करते हैं और शहर आकर भी उन्हें तीन वक्त का खाना मिल पाना मुश्किल है। उनके प्रति उनकी सहानुभूति सहज ही जागृत हो उठती है। इनकी कविता ‘खुरदरे पैर’ में कवि ने रिक्शावाले का यथार्थ चित्रण कर समाज के मुँह पर

तमाचा मारा है। गाँधी ने बहुत पहले कहा था कि 'जब-जब मैं दुविधा में पड़ता हूँ, मैं हिन्दुस्तान के उस सबसे गरीब आदमी का चेहरा याद करता हूँ जिसे मैंने देखा है।' वही नुस्खा करुणामूर्ति बुद्ध के शिष्य नागार्जुन ने अपने मन में कहीं पाल रखा है। इसी कारण नागार्जुन जहाँ कहीं खुरदुरे पैर देखते हैं, अन्याय की बू पा लेते हैं, बिदक उठते हैं।¹ इनकी कविता 'खुरदुरे पैर' में कवि ने रिक्शावाले का यथार्थ चित्रण कर समाज के मुँह पर तमाचा मारा है। रिक्शावाला, जिसके पैर फट कर खुरदुरे हो चुके हैं और वह फिर भी किसी को अपना दुख न बताकर पैडलों पर पैर मारता चला जा रहा है। एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन चक्र लगाकर वे पैर जनता को ढोये जा रहे थे। उसकी व्यथा को व्यक्त करता कवि कहता है- "खुब गए/दूधिया निगाहों में/फटी बिवाइयों वाले खुरदुरे पैर/धँस गए/कुसुम-कोमल मन में/गुट्टल घड़ों वाले कुलिष-कठोर पैर/दे रहे थे गति/रबड़-विहीन टूँठ पैडलों को/चला रहे थे।"⁵

नागार्जुन सामान्य जन के प्रति सहानुभूति रखते थे। एक रिक्शाचालक जिसे शायद इस संसार में कोई भी महत्त्व नहीं देता होगा, लेकिन नागार्जुन ऐसे लोगों को ही अपनी लेखनी का आधार बनाते हैं।

नागार्जुन द्वारा चित्रित एक अन्य कविता जिसे बिना देखे प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इनकी कविता 'देखना ओ गंगा मइया' इतनी यथार्थ और सटीक अभिव्यक्ति है, जिसे लेखन रूप देने के लिए उन दृश्यों का सामने होना अत्यावश्यक है। इनकी इस कविता में उन्होंने उन गरीब लड़कों का चित्रण किया है जो गंगा में डुबकी लगाकर पैसा खोजते हैं, चंद पैसों के लिए अपनी जान को खतरे में डालते हैं। इन लड़कों को देखते तो सब हैं, लेकिन उन्हें समझने की कोशिश आज तक किसी ने नहीं की। नागार्जुन ने इन पर भी कविता लिखी और समाज में इन लड़कों का भी कोई अस्तित्व है, इस बात को महत्त्व दिया है। वे कहते हैं- "चंद पैसे/दो-एक दुअन्नी-इकन्नी/कानपुर-बम्बई की अपनी कमाई में से/डाल गए हैं श्रद्धालु गंगा मइया के नाम/पुल पर से गुजर चुकी है ट्रेन/नीचे प्रवाहमान उथली-छिछली धार में फुर्ती से खोज रहे पैसे/मल्लाहों के नंग-धड़ंग छोकरे।"⁶

इस कविता के माध्यम से कवि ने एक ओर समाज की आर्थिकता दयनीयता के शिकार नंग-धड़ंग छोकरो को दिखाया है तो वहीं दूसरी ओर अंधविश्वास में फंसे श्रद्धालुओं को भी आड़े हाथ लिया है, जो इस विश्वास के साथ गंगा में पैसे फेंकते हैं कि उनको काम में सफलता मिले या सुख शांति

मिले। लेकिन कभी उन पैसों से गरीब की मदद करने की चेष्टा शायद किसी ने नहीं की।

नागार्जुन की पैनी दृष्टि ने श्रमिकों, मजदूरों, किसानों पर भी दृष्टिपात किया है। इनकी ग्रामीण जीवन पर लिखी कविताओं में भूख, गरीबी, शोषण आदि की अभिव्यक्ति यथार्थवादी ढंग से हुई है। ग्रामीण जीवन के किसानों की गरीबी को नागार्जुन इसलिए अभिव्यक्ति कर पाए हैं, क्योंकि इनके नज़र और दुर्दशा को वे भली प्रकार जानता हैं। वह किसान जो दूसरों के लिए अन्न उगाता है, उसी किसान के घर का चूल्हा रोता है और चक्की उदास रहती है। नागार्जुन ने अपनी कविताओं में दिखाया कि जो किसान कपास उत्पन्न करता है, वही नंगे अदन शीत-गर्मी सहजा है और उसकी मेहनत से खाने वाले और कपड़े पहनने वाले बड़े-बड़े अमीर लोग इन किसानों को गँवार समझते हैं। पूँजीवादी, जमींदार, खद्दरधारी सभी उच्चवर्ग के लोग इनका शोषण करते हैं। यह समाज की विडम्बना ही है जो किसान जिस चीज़ की उपज करता है, वह उस से ही वंचित रहता है। इसी तरह का चित्रण कवि की 'पूरी आज़ादी का संकल्प आज दुहराते हैं' नामक कविता में मिलता है- "भूखे रहकर आधा खाकर दिन पर दिन दुबराते हैं/हाथी छेद रहा है जाड़ा बरबस दाँत बजाते हैं/दवा न कर पाते रोगों की यम को पास बुलाते हैं/हरि इच्छा या रामभरोसे अपने को समझाते हैं/चाँदी तक क्या टहला तक की ओँठी नहीं गढ़ाते हैं/परब तीज त्यौहार नहीं तंगी के कारण भाते हैं।"⁷

नागार्जुन की अनेक कविताएँ हैं जिनमें ग्रामीण जीवन की विडम्बना के चित्रण किया गया है।

एक ओर ग्रामीण जीवन की विसंगतियों का कवि ने यथार्थ और मार्मिक चित्रण किया है, वहीं दूसरी ओर शहरी विडम्बना को भी आड़े हाथ लिया है। यह समाज की विडम्बना ही है कि जो कुली-मजदूरी का पेशा करने वाले व्यक्तियों को समाज में वह मान-सम्मान नहीं मिल पाता जो उच्च वर्ग के लोगों को प्राप्त है। हमेशा ही इन्हें नकारा जाता है, इनका शोषण किया जाता है। नागार्जुन ने इन उपेक्षित व्यक्तियों को अपनाते हुए इनकी दयनीय स्थिति को दिखाया है और अपनी रचनाओं का आधार ऐसे आम लोगों को बनाया। साधारण जनता के दुःखों को अपना दुःख मानकर उनपर अत्याचार करने वालों का नागार्जुन विरोध करते हैं। इनकी 'घिन तो नहीं आती' नामक कविता में मजदूरी करने वालों की समाज में दीन-हीन स्थिति को व्याख्यायित किया गया है और अभिजात्य वर्ग पर भी अपनी कविताओं से प्रहार

किया है- “कुली मजदूर हैं/बोझा ढोते हैं, खरंचते हैं ठेला/टापस की उनकी बतकही/सच-सच बताओ/नागवार तो हीं लगती?/जी तो नहीं कुढ़ता?/घिन तो नहीं आती?”⁸

नागार्जुन सच में लोक चेतना के कवि हैं। उन्होंने ऐसे-ऐसे विषय समाज से उठाये जो कोई अन्य कवि शायद सोच भी नहीं सकता था। उन्होंने अकाल की स्थिति को अपनी कविता का आधार बनाकर ‘अकाल और उसके बाद’ नामक कविता की रचना की। कवि को विषय कहीं से भी ढूँढ़ने नहीं पड़े वे जैसे भी थे, जिस भी स्थिति में थे, उस स्थिति में ही कविता लिख डाली। कवि ने अकाल की स्थिति को बहुत ही नजदीक से देख था। इस कविता में उन्होंने जनता के करुण, लाचार और शोषित अवस्था का बड़ी ही स्टीक चित्रण किया है। अकाल के कारण केवल आदमी ही भूखा-प्यासा नहीं है वरन् कवि ने सभी सम्बन्धित छोटे-बड़े अन्य प्राणी भी अन्न के अभाव के कारण व्याकुल होते दिखाए हैं। कवि कहता है- “कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास/कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास/कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गस्त/कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।”⁹

अकाल से सब कुछ प्रभावित हो चुका है और कवि की पैनी दृष्टि से कुछ भी नहीं बच पाया। एक मास्टर को आधार बनाकर कविता लिखने का काम केवल नागार्जुन ही कर पाए हैं उन्होंने मास्टर की दयनीय स्थिति को भाँपकर उसे स्वयं महसूस किया। ‘शिक्षक समाज की धुरी हैं’ कविता में इस यथार्थ को अभिव्यक्ति मिली है कि किस प्रकार पेशे से मास्टर वेतन के इंतज़ार में अपने परिवार के सदस्यों को काल का ग्रास बनाकर भगवान को प्यारा हो जाता है। इस कविता के माध्यम से कवि ने समाज के इस खोखले आदर्श वाली नीति का पर्दाफाश किया है। कवि की यह कविता तत्कालीन ही नहीं वरन् आज के शिक्षकों की स्थिति को भी व्याख्यायित करती है तथा समाज के प्रशासन नीति पर कसकर तमाचा मारती है- “पेशा से प्राइमरी स्कूल का मास्टर था/तनखा थी तीस रुपए, सो भी नहीं मिली/मुश्किल से काटें हैं/एक नहीं, दो नहीं, नौ-नौ महीने/धरनी थी, माँ थी, बच्चे थे चार/आ चुके हैं वे भी दयासागर, करुणा के अवतार/आप ही की छाया मेंसफलतापूर्वक निकले थे प्राण/सह न सके आंत जब पेशिश का हमला....”¹⁰

कवि ने मास्टर की स्थिति को बहुत ही मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया है। कैसे आत का प्राइमरी मास्टर अपने घर की हालत से जूझ रहा है और आनी दवाई न जुटा पाने के कारण बीमारी से मर जाता है।

नागार्जुन साधारण लोगों को तो अभिव्यक्त करते ही है, जिनका हर तरफ से शोषण किया जाता है, कोई भी व्यक्ति उन्हें महत्वपूर्ण न समझकर नकार देता है, उन्हें अपने जीवन का अंग नहीं मानते हैं। उन्होंने राजनेताओं के द्वारा किये जाने वाले शोषण को भी व्यक्त किया है और ऐसे लोगों को आड़े हाथ लिया, जिनके एक दिन का खर्च इन मजदूरों के परिवारों के पूरे महीने के खर्च से भी ज्यादा है। इन राजनेताओं की, इन उच्चवर्ग के लोगों की चमक-दमक के पीछे उन मजदूरों की जिन्दगी है, जिनके पास न तो शिक्षा है, न चिकित्सा, न घर, न वस्त्र, बस किसी तरह से दो वक्त का रुखा-सूखा भोजन है। इसे जुटाने के लिए भी उस मजदूर को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है और ऊपर से शासन की तरफ से मँहगाई की मार उनका स्तर निम्न कर देती है।

नागार्जुन की कविता लौकिक चेतना से ओत-प्रोत है। उन्होंने अपनी कविता में साधारण जन की भावनाओं एवं उनकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि स्थितियों को गहनता से परखते हुए रूपायित करने का सफल प्रयास किया है। अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय देते हुए उन्होंने समाज के उन उपेक्षित जन-साधारणों को काव्य का विषय बनाया है, जिसे आमतौर पर साहित्य से बाहर रखा गया है, समाज भी उन्हें वह सम्मान नहीं देता जो एक मानव के रूप में उन्हें मिलना चाहिए। इन्हीं कारणों से कवि ने व्यवस्था से कभी समझौता नहीं किया, आम लोगों के अस्तित्व के लिए संघर्ष किया।

सन्दर्भ-

1. डॉ. सत्यनारायण स्नेही, समकालीन कविता में लोकचेतना, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2012, पृ. 13
2. समकालीन कविता में लोकचेतना, पृ. 13-14
3. (सं.) विश्वरंजन, फिर फिर नागार्जुन, शिल्पायन, दिल्ली, 2011, पृ. 513
4. (सं.) प्रभाकर माचवे, सुरेश सलिल, नागार्जुन, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण, 1999 पृ. 10
5. (सं.) शोभाकान्त मिश्र, नागार्जुन: चुनी हुई रचनाएँ-2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1985, पृ. 121
6. नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ-2, पृ. 107
7. नागार्जुन, ऐसे भी हम क्या! ऐसे भी तुम क्या!, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, पृ. 16-17
8. नागार्जुन: चुनी हुई रचनाएँ-2, पृ. 133
9. वही, पृ. 84
10. वही, पृ. 77-79

शोधार्थी, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

अभिमन्यु अनत के काव्य में मानव मूल्य

श्रुति सुधा आर्या

“नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती कि वह आवेग त्वरित कालयात्री है।” - मुक्तिबोध कविता हो या कोई भी मनुष्य सापेक्ष साहित्यिक विधा, उसे कोई कालखण्ड या कोई सीमा रेखा बाँध नहीं सकती। इसलिए वो प्रवासी साहित्य जो विभिन्न भौगोलिक, सामाजिक, साँस्कृतिक व राजनीतिक परिस्थितियों की उपज होता है उसके भीतर का मनुष्य विभिन्न सीमा रेखाओं को अतिक्रमित करते हुए हमारे अंतर को भी झकझोरने में सक्षम हो पाता है। भारत की सीमाओं से बाहर यदि हम मॉरीशस की बात करें तो “मॉरीशस एकमात्र देश है, जहाँ अभी तक भारतीयता अपनी संपूर्णता में विराजमान है, संस्कृति और भाषा जीवित है और मॉरीशस एकमात्र ऐसा देश है जिसके साथ राजनीतिक रिश्ते से कहीं अधिक पुराना और प्रबल रिश्ता है संस्कृति, भाषा और साहित्य का।”¹ वर्तमान में मॉरीशस में भारत की ही तरह हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को रचने वाले प्रवासी साहित्यकारों की एक लंबी शृंखला विद्यमान है। इसी शृंखला के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं-‘अभिमन्यु अनत’। साहित्य की लगभग हर विधा में इनकी भागीदारी है। इन विधाओं में से मैं यहाँ विशेषतः इनके काव्यगत मूल्यों की चर्चा करना चाहूँगी। किन्तु इससे पहले ‘मूल्य’ शब्द से अवगत होना अति अनिवार्य है।

‘मूल्य’ शब्द मूल + यत् से निष्पन्न है। यह “शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय ‘वैल्यू’ का पर्यायवाची है। अर्थशास्त्र में वह ‘बाज़ार दर’ के अर्थविनिमय के एक आवश्यक प्रतिमान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मानवीय क्रियाओं में, आहार-व्यवहार में अच्छाई या शिवत्व का मूल्य क्या है, इस पर नीति-शास्त्र ने बहुत विचार किया है। कुछ लोगों के अनुसार ऐसा सर्वव्यापक, सर्वसम्मत मूल्य-निर्धारण असंभव है।...ऐसी स्थिति में ‘अधिकों का हित’ यह उपयोगितावादी कसौटी कुछ नीति-शास्त्रियों (मिल, जोन्स) ने प्रस्तुत की, तो कुछ लोगों ने

नैतिक क्रिया के मूल में जो हेतु या कारण-सरणी है उसकी मीमांसा करके सोद्देश्य कर्म में ही ‘मानव को अपने आप में साध्य’, यानि उसे श्रेष्ठतम और नैतिक कर्म माना।”² (कान्ट) “साहित्य में मूल्य का विशिष्ट अर्थ है। यहाँ पर ‘मूल्य’ शब्द समाज कल्याण अथवा मानव हित वाले अर्थ तक ही सीमित नहीं है। अपितु साहित्य में वह लोक-कल्याण की भावना के साथ ही सत्य और सुंदर को भी समाहित कर लेता है।”³

इस संदर्भ में यदि हम अभिमन्यु अनत की बात करें तो कवि के रूप में इन्हें देखते हुए ये स्पष्ट होता है कि यह पहले मनुष्य हैं और उसके बाद कवि। इस प्रकार इनके कवित्व की साधना जमीन के लोगों से जुड़ी हुई साधना है। निःसंदेह इनके काव्यगत उपमान अपने भूगोल से स्पष्टतः प्रभावित हैं लेकिन फिर भी इनकी कविताओं का केन्द्रीय स्वर मनुष्यता का स्वर है। परिणामस्वरूप काल एवं देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर यह हमारी शुद्ध मानवीय संवेदनाओं से एकाकार हो पाती हैं। इस प्रकार इनके भूगोल का समुद्र जीवन की असीम पीड़ाओं का समुद्र है। किनारे की बालू अधूरे सपनों का घरौंदा है, छोटी-छोटी इच्छाओं तथा खुशियों की लहरों पर क्रूर यथार्थ के ज्वारभाटे हैं तो दूर तक पूँजीपतियों तथा प्रशासकों के चट्टानी हृदय हैं। उनका यह भूगोल निःसंदेह सीमाओं का अतिक्रमण कर पूरे विश्व के सर्वहारा का भूगोल बना प्रतीत होता है। कभी ‘मारीच’ नाम के फ्रांसीसी टापू का आज मॉरीशस नामधारी हो दुनिया भर के सैलानियों को आकर्षित करना तो महज सतह पर दिखता है लेकिन अभिमन्यु की संवेदना अपने पाठक को उस अद्भुत सौन्दर्य की नींव बनी वीभत्स सच्चाइयों तक ले जाती है जहाँ संवेदनशील मनुष्य की आत्मा चीत्कार कर उठती है-देश के अंधे इतिहास ने न तो उसे देखा था/न तो गूंगे इतिहास ने/कभी सुनायी उसकी पूरी कहानी हमें/न ही बहरे इतिहास ने सुना था उसके चीत्कारों को/जिसकी इस माटी पर बही थी

पहली बूँद पसीने की/जिसने चट्टानों के बीच हरियाली उगायी थी/नंगी पीठों पर सहकर बाँसों की बौछार/बहा-बहाकर लाल पसीना/वह पहला गिरमिटिया इस माटी का बेटा/जो मेरा भी अपना था, तेरा भी अपना।⁴

इस प्रकार यथार्थ के कठोर धरातल पर पाँव रखते हुए जहाँ आप हमें सुन्दरता के पीछे छुपी अमानवीय कुरूपता से साक्षात्कार करवाते हैं वहीं उसके साथ माटी का मानवीय रिश्ता जोड़कर उसके दुःख को भी साझा कर मानवीय मूल्यों के प्रतिमान स्थापित करते हैं। इस साझे दुःख में आप इस कदर आत्मीय हो जाते हैं कि बार-बार आप सौन्दर्य के इतिहास को कटघरे में खड़ा कर देते हैं। आपका यह भाव पहले काव्य-संग्रह 'नागफनी में उलझी सांसे' की कविताओं 'लम्बी मृत्यु इतिहास की', 'श्वेत रक्त' व 'कोरी हथेली' से चलते हुए 'एक डायरी बयान' की 'नवम्बर आधी रात' के पड़ाव से गुजरते हुए, आपके चौथे काव्य-संग्रह 'गुलमोहर खौल उठा' की कविताओं- 'वह अनजान प्रवासी', 'खूनी इतिहास', 'इतिहास की अस्मिता', इतिहास के झूठ' तथा 'क्षणिकाओं' तक पहुँचकर और अधिक मुखर होकर प्रकट हुआ है। यथा- "पिरामिड लौहे भुजाओं वाले दासों ने बनाया है/और ताजमहल नंगी पीठ वाले काफ़िर मजदूरों ने/मेरा ज़मीर इतिहास पढ़ना नहीं चाहता/वह भंजकों को निर्माता नहीं मान सकता।"⁵

इस प्रकार कवि ने पूरे विश्व की पीड़ा को आत्मसात् कर, अपने काव्य को मिट्टी से जुड़े और मिट्टी में जी रहे लोगों की पीड़ाओं, यातनाओं, मानसिक छटपटाहटों तथा व्यग्रताओं की डायरी बना दिया है। जिसमें वे गुलाम, मजदूर, बेबस, लाचार व अमानुषिक यातानाएँ झेलते हुए व्यक्ति को मनुष्य के रूप में देखने का आह्वान करते हैं। किन्तु इनका यह आह्वान बड़े ही शांत रूप में यथास्थिति वर्णन तक ही सीमित रह गया है। वे कहीं भी काल मार्क्स के प्रसिद्ध आह्वान कि, 'दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ। तुम्हारे पास खोने के लिए जंजीरों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और पाने के लिए पूरा जहान पड़ा है' से प्रभावित हुए नहीं दिखते। यथा- जवानी का मुहताज मेरा वह बेटा आज/अपनी साँसों को इसलिए रोके हुए है/कि कहीं उन गरम साँसों से/उसके चारों ओर की तुम्हारी इमारतें/गल कर ढह न जायें/इसलिए सांस के अभाव में/वह धीरे-धीरे मर रहा है।⁶

इस विषय में वे स्वयं अपने साक्षात्कार में यह कहते हैं कि, "मजदूर से यह कहते रहना कि आंदोलन करो, क्रांति करो कोई मतलब नहीं रखता।... मैं जुल्म के खिलाफ बगावत

से कहीं अधिक जुल्म के अपने आप घटने की प्रक्रिया पर विश्वास करता हूँ।"⁷ फिर भी इनकी कविता में मानव मूल्य तथा मनुष्यता के लिए व्यक्त पीड़ा इतनी गहरी है कि बार-बार ऐसा जान पड़ता है मानो यह पीड़ा इनकी अनुभूत की गई पीड़ा हो। मानो गिरमिटिया मजदूरों की पीठ पर पड़ने वाले कोड़ों के निशान इन्हीं की पीठ पर ही छपे हों या कि उन पर होने वाले जुल्म एवं अत्याचारों के ये प्रत्यक्षदर्शी हों। कवि अपने यथार्थ चित्रण को यहीं पर खत्म नहीं कर देता बल्कि उन कड़वी सच्चाईयों के हलाहल को पाठक के समक्ष इस कदर प्रस्तुत करता है कि पाठक भी उस हलाहल का पान कर शिवत्व को धारण करे तथा जीवन में द्वैत को खत्म कर, किसी से भी दोगम दर्जे का व्यवहार न करे। इस प्रकार क्रमशः इनके काव्य-संग्रहों से गुजरते हुए इनकी वेदना जीवित होकर पाठक के भीतर उतर जाती है और पाठक कवि की 'मैं' के साथ साधारणीकृत हो उस दर्द को स्वयं महसूस करने लगता है। फिर भी इनके पूरे काव्य से गुजरते हुए यह प्रश्न निरंतर मथता रहता है कि जिन अमानुषिक परिस्थितियों में कवि सांस ले रहा है उन विषम परिस्थितियों की निराशा से आगे बढ़कर वह बाकी लोगों का प्रतिनिधित्व कर, किसी जंग का ऐलान क्यों नहीं करता? क्यों उनका कवितत्व यथास्थिति वर्णन भर बनकर रह गया है। यथा- "बंधु मेरे। मेरा नाता/कोल्हू से है/कोड़ों के घावों से है/और यहाँ की/सभ्यता जिससे बनी है/उस सफेद सोने से है।" "तुमसे ठंडक की चाह और/हरियाली की उम्मीद ही/तुम्हारे साम्राज्य का विस्तार है।" "प्रलय तो हर क्षण आती है।"

"मेरी रचनाओं का एक-एक शब्द/झुलसा जा रहा है नर्क में/ये दर्द भरे क्रन्दित स्वर मुझे पुकार रहे हैं।"

उनके ये आँसू एवं "उनका यह अनुभव प्रवासित भारतीय का अनुभव ही नहीं, संसार के सभी विस्थापित मनुष्यों का प्रतिनिधित्व भी करता है, वह मनुष्य चाहे भारतीय हो, अफ्रीका का यह लैटिन अमेरिका अथवा अन्य देशों का।"⁸ यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इनकी मानवीय दृष्टि मात्र गिरमिटिया मजदूरों की पीड़ा को ही ना देखकर मनुष्य जीवन के लगभग हर पहलू की पीड़ा को देख व महसूस रही है। इस मानवीय दृष्टि के साथ-साथ कवि की मानव मूल्य परक तीखी कलम भ्रष्टाचार पर, स्वातंत्र्योत्तर लड़खड़ाती नई व्यवस्था पर, सत्ता पर, बाज़ार पर तथा वैश्वीकरण तक के विस्तृत फलक पर अपनी आवाज़ उठाती है। अर्थात् ये सर्वहारा के संघर्ष से लेकर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं तक भरपूर लिखते हैं। अपने काव्य में सूर्य, बादल,

समुद्र, बालु, फैन, पहाड़ व ज्वार भाटे इत्यादि उपमान इस्तेमाल करने के बावजूद कवि की संवेदनाएँ प्रकृति से बहुत अधिक तालमेल बिठाती नहीं दिखतीं। इस विषय में अपने ही साक्षात्कार में अभिमन्यु स्वयं कहते हैं कि, “मेरे अपने भीतर का कलाकार पहले इस देश के पीड़न, उदासीनता, अभाव, आक्रोश - इन सारी चीजों से समय पा ले, फिर उसे इन गूंगी प्राकृतिक सुषमाओं के वर्णन से कोई आपत्ति थोड़े ही होगी।”⁹ तत्कालीन समाज में भी दोगम दर्जे का व्यवहार सहने वाले दलितों के प्रति आपके भीतर का मनुष्य इस कदर संवेदनशील है कि आप अपने कवि कर्म को एक मेहनतकश चमार के कर्म से जोड़ने से भी परहेज़ नहीं करते। यथा- तुम जूते बनाते हो, ताकि .../कंकड़, कीचड़/आदमी के पाँव को खाये नहीं/मैं भी मेरे दोस्त/कविता रचना हूँ ताकि/आदमी आदमी को खाये नहीं/मैं तुम्हारी ही जाति का हूँ/मैं भी चमार हूँ मेरे दोस्त।¹⁰

वैसे तो हर साहित्य कर्म मनुष्य केन्द्रित ही होता है लेकिन अभिमन्यु की यह मनुष्यता किसी दंश भोग रहे मनुष्य को परे धकेलकर या उसके ‘मैं’ के साथ ‘हम’ के रूप में जुड़कर तथा कभी-कभी स्वयं ‘मैं’ बनकर ही उस दंश को भोगने की मनुष्यता है। इस तरह वे मानवीयता की ‘मैं’ को विश्वव्यापी ‘मैं’ मान लेते हैं। यथा- “तुम सपने देखते हो रास और परियों के/मैं सपने देखता हूँ हिरोशिमा के, बाँसों-कोड़ों की बौछार सहने वाले दासों के/तुम सपने देखते हो गगनचुंबी, इमारतों के/मैं सपने देखता हूँ पटरियों के।” मनुष्यता के लिए ऐसी ही वेदना और टीस नागार्जुन में भी दिखती है। जब वे कहते हैं कि वे लोहा पीट रहे हैं/तुम मन को पीट रहे हो/वे पत्तर जोड़ रहे हैं/तुम सपने जोड़ रहे हो/उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है/और तुम्हारी घुटन/उनींदी घड़ियों में चुरती है।¹¹ यहाँ ऐसा लग रहा है मानो कवि भारत की भूमि पर ही, नागार्जुन की संवेदनाओं को विस्तार देते-देते ही ‘वे और तुम’ से ‘सितम्बर-दोपहर’ की ‘मैं और तुम’ तक पहुँच गये हैं। इस विषय में वे ‘बसंत’ के तीसरे अंक की संपादकीय में कहते हैं कि, “दुनिया भर में आदमी की समस्या लगभग एक ही है। व्यवस्था के दूर तक फैले हुए जाल में आदमी की अपनी क्या स्थिति और हस्ती रह जाती है? हम भी जारी रखे हुए हैं यह संघर्ष। चाहे भूख का हो, चाहे वर्ग-संघर्ष का, चाहे अस्मिता का, चाहे सूनेपन से जूझने का। ये कड़ियाँ कहीं-न-कहीं मिलती जरूर हैं और लड़ाई का एक विश्वव्यापी मुद्दा लगभग यही हो जाता है कि छिछलेपन और घिनौनेपन से आदमी को मुक्त किया जाए।”¹² इस प्रकार अतीत से वर्तमान तक आते-आते कवि अपनी समग्र संवेदनाओं से मनुष्य की स्थिति

और बुर्जुआ लोगों द्वारा बनाई उसकी नियति को स्पष्टतः देख और महसूस रहा है। भारत जैसे प्रगतिशील देश की ही तरह मॉरिशस का भी आम आदमी स्वतंत्रता के पश्चात् सत्ता के झूठे आश्वासनों में ही जी रहा है। जहाँ पल-पल उसे रोटी, कपड़ा, मकान की मूलभूत आवश्यकताओं से जूझना पड़ता है। ऊपर से बाज़ारवाद ने अमीर और गरीब की विभाजन रेखा को इस कदर बढ़ा दिया है कि गरीब का तो जीवन जीना भी दुष्कर हो गया है। समाज संवेदनहीन होता जा रहा है। जीवन मूल्य समाप्ति की कगार पर खड़े हैं- “बाजार की बासी महँगाई की तरह/जिजीविषा का मूल्य भी चढ़ गया है.../विश्व मंडी की मुद्राओं की तरह /कुछ मूल्यों का भाव भी गिर गया है।

अभिमन्यु असमान सामाजिक विभाजन से बहुत अधिक संतप्त हैं। जिसे वे इस तरह से व्यक्त कर रहे हैं- “तुम बोरे जा रहे हो अपनी रोटी/मेरे पसीने के रस में/मैं सूखी रोटी खा रहा हूँ /क्योंकि तुम्हारा तो/पसीना बहता ही नहीं।”¹³ स्वतंत्रता के पश्चात् टूटे ‘सपनों से मर्माहत जनता की टीस को समझते हुए कवि ने अनेक कविताओं में ‘रघुवीर सहाय, लीलाधर जगुड़ी तथा धूमिल जैसे कवियों की तरह सत्ता और व्यवस्था का पर्दाफाश किया है। ‘कैक्टस के दाँत’ काव्य-संग्रह में - ‘हर दूसरे क्षण’, ‘दरवाजे पर दस्तक’, ‘पहचाने जायेंगे जन’, ‘नकली जीभ’, ‘इश्तहार’, ‘आश्वासन यात्रा’ या ‘दोपहर में रात हो’, ‘फ्रिज में’, ‘संतुलन’, ‘विधवा दीवारें’, ‘वरदान’, ‘अहसान मत कर’ तथा ‘यही मेरी आज़ादी है’ इत्यादि कविताएँ इसी दृष्टि से रची गई हैं।

शहरीकरण ने जिस एकाकीपन को जीवन का अहम् हिस्सा बना दिया है तथा मनुष्य और मनुष्य के बीच मनुष्यता या इंसानियत के रिश्तों की गर्माहट को खत्म कर दिया है उसके लिए कवि अत्यन्त व्यथित है- “ठंड से पूरा शहर काँप रहा है/एक अजनबी रात हमारी रातों से भिन्न/हर रात शहर में मंडरा रही है।”¹⁴

यहाँ कवि मनुष्यता के स्तर पर वर्तमान में खड़े होकर जहाँ बीते कल के मानवीय संबंधों को याद कर रहा है वहीं भविष्य को लेकर आशंकित भी दिख रहा है। साथ ही कवि की पैनी नज़र समाज में व्याप्त ‘बेकारी’ और ‘भ्रष्टाचार’ जैसी भयानक समस्याओं पर भी टिकी हुई है- ‘मैं इधर कई दिनों, कई महीनों से/लौटता आ रहा था चारों ओर से खाली हाथ जब मैं सिफारिशी खत के अभाव में प्रमाण पत्रों के साथ।

कवि की आम आदमी की परेशानियों एवं चिंताओं की व्यथा केवल अपने परिवेश की व्यथा की कहानी ही नहीं बयां

करती बल्कि समस्त विश्व के मनुष्य की व्यथाओं से कवि व्यथित है। तभी तो अपनी दृष्टि को व्याप्त करते हुए 'कविता में पढ़ा' रचना में कहते हैं कि- "यह मेरी व्यथाओं की गठरी है/यात्रा लम्बी होगी इसे उतारने को...मालूम है/तुम्हें कोई दूसरी जगह/संसार में जहाँ/मैं उतार सकूँ अपने बोझ को?"¹⁵

अपने इस समष्टि भाव में कवि पूरे विश्व में हिरोशिमा को पनपते तथा मनुष्य का दम घुटते देख रहा है। 'गल्फ के अंगारे' कविता का यह उदाहरण देखिए- "वह हर देश अब अपना ही आंगन लगता है/जहाँ से हाथ ऊपर उठकर दया माँगते हैं/हर कतरा खून का, हर बूंद आंसू की अपनी है।"

इसी कविता में युद्धभूमि में लड़ने वाले सैनिक के लिए वे कहते हैं कि- "यह पूछता हुआ भी यह किसका युद्ध है/सिपाही उसे लड़ने को मजबूर है/हर धमाके पर वह पूछता रहा अपने आप से/रोटी के अभाव में आदमी-आदमी को खा रहा है।"¹⁶

मानवीय संवेदनाओं के इतने विस्तृत फलक के बावजूद कवि अपनी विशिष्ट अस्मिता, संस्कृति तथा संस्कृति की ही वाहक भाषा से अत्यन्त गहराई से जुड़े हैं- जब्त कर लो मेरी हर आशा/छिनने नहीं दूँगा तुम्हें लेकिन/अपनी पहचान अपनी भाषा।

इस प्रकार अभिमन्यु अनंत के काव्य-कर्म से गुजरते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ एक तरफ इनकी कविताएँ आंसू बहाती हैं वहीं दूसरी ओर 'व्यक्ति' को 'मनुष्य' बनाने के लिए उत्सुक दिखाई देती हैं। अतः इनके सम्पूर्ण काव्य की यात्रा मानव-मूल्यों की यात्रा है।

सन्दर्भ-

1. अभिमन्यु अनंत, नई धारा, अगस्त-सितम्बर 2013, पृ. 24, (सं.) शिवनारायण, पटना
2. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पारिभाषिक शब्दावली, पृ. 509, संस्करण 2011, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
3. डॉ. राजेश कुमारी, नरेश मेहता का काव्य : मूल्य और मूल्यांकन, पृ. 29, शब्द सेतु प्रकाशन, दिल्ली
4. अभिमन्यु अनंत, समग्र कविताएँ, काव्य संग्रह : गुलमोहर खौल उठा, पृ. 220, (सं.) डॉ. कमल किशोर गोयनका, इरावती प्रकाशन, नई दिल्ली
5. अभिमन्यु अनंत, समग्र कविताएँ, काव्य संग्रह : एक डायरी बयान, पृ. 174
6. वही, पृ. 168
7. अभिमन्यु अनंत, नई धारा, अगस्त-सितम्बर 2013, पृ. 32, (सं.) शिवनारायण, पटना
8. कमलेश्वर, नई धारा, अगस्त-सितम्बर 2013, पृ. 63, (सं.) शिवनारायण, पटना
9. अभिमन्यु अनंत, वही, पृ. 28
10. अभिमन्यु अनंत, समग्र कविताएँ, काव्य संग्रह : गुलमोहर खौल उठा, पृ. 258
11. नागार्जुन, समकालीन हिन्दी कविता, पृ. 53, (सं.) डॉ. रामरती, खाटू श्याम प्रकाशन, रोहतक
12. अभिमन्यु अनंत, पृ. 19, आंचलिक पत्रकार, दिसम्बर 2013, (सं.) विजयदत्त श्रीधर।
13. अभिमन्यु अनंत, समग्र कविताएँ, काव्य संग्रह : कैक्टस के दाँत, पृ. 134
14. वही, पृ. 134
15. वही, काव्य संग्रह : गुलमोहर खौल उठा, पृ. 269
16. वही, पृ. 264

897/28, भरत कॉलोनी, रोहतक (हरियाणा)

श्री हित ध्रुवदास के काव्य में प्रेम का स्वरूप

मोनिका हंस

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रणत रसिक शिरोमणि भक्त कवि ध्रुवदास ने श्रीराधा को सर्वोपरि मानते हुए श्री युगल की भक्ति उपासना की है। वृंदावन की कुंजों में नित्य विहार करते हुए श्री युगल प्रेम लीलाओं में निमग्न होकर आनंद को प्राप्त करते हैं। श्री युगल की प्रेम-केलि के दर्शन करके सहचरियाँ भी आनंद प्राप्त करते हुए सुख का अनुभव करती हैं। श्रीराधा-कृष्ण के प्रेमी स्वरूप को ध्रुवदास ने शृंगार के सभी स्तरों पर चित्रित किया है। नित्य मिलन राधावल्लभ सम्प्रदाय की मूल स्थिति है जिसमें राधा-कृष्ण निरन्तर निमग्न रहते हुए प्रेम, विरह, व्याकुलता, विवशता, अधीरता, अतृप्ति आदि प्रेम रूप को प्राप्त करते हैं।

प्रेम मूर्त रूप होता है। श्री युगल लीलाओं में निमग्न रहते हुए स्वयं प्रेम रूप है। उनकी सम्पूर्ण लीलाओं का प्रेरक तत्व स्वयं रस अथवा प्रेम ही है। प्रेम के उदय होने पर उपासक के हृदय में जो तरंगें उठती हैं वे मन, प्राण, इन्द्रिय, आत्मा सब को सुखमय बना देती है। प्रेम के अन्तर्गत माधुर्य और मादकता प्रति क्षण प्रकाशित रहते हैं। सात्विक प्रेम की तुलना संसार की कोई भी अमूल्य वस्तु नहीं कर सकती अतः सात्विक प्रेम मन को शांत एवं एकाग्रचित्त दशा में ले जाता है। ध्रुवदास का मत है कि- जहाँ लगी उज्ज्वल निर्मलताई, सरस सनिग्ध सहज मृदुताई। अद्भुत सरस प्रेम निज सोई, चित्त चलनि की जिहि गति खोई। जिहि दुख सम नहिं और सुख, सुख की गति कहौं कौन। वारि डारि 'ध्रुव' प्रेम पर राज चतुर्दस भौन।'

ध्रुवदास के काव्य में प्रेम के रूप की विशद् विवेचना की गई है। सृष्टि का आदि, मध्य और अवसान प्रेम को ही माना गया है। समस्त संसार प्रेम पर ही आश्रित है। श्री ध्रुवदास ने प्रेम के स्वरूप पर विचार करते हुए 'सिद्धान्त विचार चर्चा' ग्रंथ में कहा है कि- "प्रेम को निज रूप है चाह, चटपटी, अधीनता, उज्जलता, एकरस, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नौतनता, सदा एकरस, रुचि-तरंग बढ़त रहै, सहज

स्वच्छंद, मधुरिता, मादिकता, जाकौ आदि अंत नहिं, छिन-छिन नौतन स्वाद।"²

शुद्ध प्रेम का स्वरूप उज्ज्वलता, सरसता, स्निग्धता और सहज मृदुलता के योग से पूर्व निष्पन्न होता है। यह क्षण प्रति क्षण नवीन रूप धारण करने वाला, एकरस और मनभावन रुचिवर्द्धक होता है। यह प्रेम अद्भुत सरस और विलक्षण होता है। प्रेम के उदय होने पर मन पूर्ण रूप से एकाग्र हो जाता है। इस प्रेम के वियोग सुख की समता संसार का कोई सुख नहीं कर सकता। निर्गुण संत कवि कबीरदास भी कहते हैं कि- "प्रेम गति अति सांकरी जा मैं दो न समाई।" प्रेम में एकरस होकर एक रूप हो जाना ही इसकी शुद्धता है, प्रगाढ़ता है, सात्विकता है। प्रेम में दो का भाव मिट जाता है। श्री युगल के प्रेम की सीमा अनंत है। ध्रुवदास का मत है कि- "प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता उसका नैरंतर्य और सतता है। वह आदि और अंत से रहित है, वह अनुपम और अद्भुत है किंतु सहज रूप में सुखद है। वह नित्य नवल, नित्य मृदुल, और नित्य रूप में मधुर है। वह अहैतुक अथवा निमित्त रहित भी है-बरनौं ऐसे प्रेम कौ, जिहि बस कीने लाल। सुद्ध स्वरूप अनूप, ध्रुव, अद्भुत परम रसाल। आदि अन्त जाकौ नहिं, रहत एक रस रूप। रुचि तरंग पल-पल बढ़ै, सहजहि सुखद अनूप। नित्य नवल मृदु मधुर वर, भीने रंग सुहाग। जामें नाहिं निमित्त कछु, सो अभंग अनुराग। रहत न पावत और रस, जहाँ प्रेम कौ राज। सकल सुखनि कौं दलमलै, ज्यौं पंछिनु में बाज।"³

इसी मत को प्रतिपादित करते हुए 'सिद्धान्त विचार चर्चा' ग्रंथ में कवि कहता है कि- "जाकौ आदि - अंत होइ सो सब प्रेम नेम जानिबौ। जाकौ अंत नहिं सो प्रेम। सर्वदा एक रस रहै सो अद्भुत प्रेम है। जुग किसोर जू कौ रूप जानिबौ, जिहिं प्रेम में ये बस किये है, सो प्रेम महा अद्भुत है। ता प्रेम के एक निमेष पर और सुख कोटि कलपनि के वारि डारिये। स्वाद के लिये भयौ सुद्ध प्रेम है।"⁴

यद्यपि प्रेम संसार की सबसे सुखद अनुभूति है, प्रेमी प्रेमास्पद के प्रति आकृष्ट होकर उसके दर्शन स्पर्शन आदि द्वारा सुख प्राप्त करता है परन्तु यह प्रेम जहाँ सुखातिशय का प्रायोजक है वहाँ दुःखातिशय का स्रष्टा भी है, क्योंकि प्रेमपात्र का वियोग-उसकी कसक और मानसिक व्यथा अत्यधिक दाहक और कष्टकारी होती है। प्रेमी प्रिय दर्शन की लालसा से व्यथित होकर तड़पता रहता है- उसके विरह में उसका एक-एक पल एक-एक कल्प के समान व्यतीत होता है। युगल किशोर का नित्य प्रेम है जो सबसे भिन्न, विलक्षण, अद्भुत और महामधुर है। प्रेम के बाण से आहत होकर कृष्ण श्रीराधा से मिलने के लिए बेचैन हो उठते हैं। वे उनके रूप का दर्शन करना चाहते हैं ताकि उनके तृपित नेत्रों को शांति मिले। प्रियतम ने दर्शन के बिना सुख-चैन नहीं। प्रतिक्षण मिलन की बेकरारी बढ़ती रहती है। प्रेम के समान कोई सुख नहीं है और प्रेम के पथ पर दुःख भी अपार है। संयोग सुख है तो वियोग दुःख। विरह काल में प्रेमी अपने प्रियतम से मिलने के लिए बेचैन रहता है उसका मन किसी भी प्रकार चैन नहीं पाता। प्रियतम के मुख-माधुर्य रूपी जलपान के लिए उसके नेत्र सदैव प्यासे रहते हैं। वियोग का प्रत्येक पल सदियों के समान बीतता है। प्रियतम के वियोग की पीड़ा असहनीय होती है-प्रीति समान न और सुख; दुःख ही अपार। मिलिबौ सुख दुःख बिछूरिबौ; यह कीनों निरधार। बिनु देखें तलपात रहे, क्यों पावे चित चैन। वदन रूप जलपान कौं, प्यासे है दोउ नैन। अब सुनि इक-इक घरी तौ, कलपन की सम होत। तिहिं दुख लिखिबे कौ कहूँ, नहिं कागद नहिं दोत। कठिन पीर पिय विरह की, लगे प्रेम के बान। अब तौ चाहत है चलयौ, रहि न सकत इति प्रान।¹

किसी व्यक्ति, वस्तु के प्रति प्रेम की प्रवृत्ति, इन्द्रिय इच्छा तथा सुख-भोग के लिए किसी वस्तु की इच्छा को, सात्विक प्रेम नहीं कहा जा सकता। संसार में भ्रमर, शलभ, मृग, मीन, गज, चातक, आदि स्वसुख के कारण प्रेम मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। सुख भोग की इच्छा से अपने जीवन का उत्सर्ग करके भी ये अनाविल प्रेम को धारण नहीं कर सकते इसलिए इनका प्रेम शुद्ध प्रेम नहीं कहा जा सकता- जामें नाहिं प्रीति कछु, जो जाकौ आहार। हिम रितु ग्रीषमता रुचै, ग्रीषम माहिं तुषार। अलि, पतंग, मृग, मीन, गज, चातक, चकड़, चकोर। ये सब झूठे नेह में, बँधे, विषय की डोर। जब लागि द्वै मन बीच कछु, स्वारथ कौ हित होइ। शुद्ध सुधा कैसें रहै, परै जो तामें तोइ। आदि अन्त जाकौ भयौ, सो सब प्रेम न रूप। आवत जात न जानियै, जैसें छॉह अरु धूप।⁶

प्रेम का न आदि है न अंत वह अन्त रहित एक रस एक अक्षुण्ण है। वियोग दुःख की सृष्टि करता है और संयोग हृदय को शीतलता का सुख प्रदान करता है। जहाँ प्रेम में संयोग-वियोग, सुख-दुख का द्वन्द्व है वह शुद्ध प्रेम नहीं। शुद्ध प्रेम संयोग-वियोग, सुख-दुख के द्वन्द्व से परे होता है। शुद्ध प्रेम में प्रेमी एवं प्रेमास्पद न देह से वियुक्त होते हैं और न ही मन से। अतः शुद्ध प्रेम में तन-मन का वियोग नहीं रहता। अनवरत रूप से रूप रस का पान करते रहने पर भी नित्य मिलन की स्थिति में भी विरह की-सी अतृप्ति और उद्वेग बना रहता है। परस्पर अंग से अंग और मन से मन का तादात्म्य रहने पर भी- हृदय तृप्त नहीं होता-ऐसी प्रेम न कहूँ ध्रुव है वृंदावन माहिं। तिन बिच अंतर निमिख कौ, होत जु कबहुँ नाहिं। प्रेम रूप वय घटत नहिं, मिटत न कबहुँ संयोग। आदि अंत नाहिन जहाँ सहज प्रेम कौ भोग। अंग-अंग मिलि रहै सब, मन सौ मन अरुझात। देखौ अटपटि प्रेम-गति चित्त न कबहुँ अघात। प्रेम चाल बाँकी चलनि, मन पग नहिं ठहराइ। नख शिख अरुझे नेम तैं, ते कैसें तहँ जाँइ। तन तरवर कौ छोड़ि कै, मनहि झुलावे आई।⁷

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम की सही स्थिति स्वीकार्य है, जिसमें प्रिया-प्रियतम क्षण भर के लिए भी विलग नहीं होते। नित्य मिलन की स्थिति में भी विरह सदृश अतृप्ति का अनुभव करते हुए और अधिक सामीप्य की कामना से विह्वल और पुलकित है। नित्य मिलन और नित्य संयोग की स्थिति में सूक्ष्म विरह की सृष्टि कदाचित् इसीलिए की गई है कि प्रेम नित्य नूतन और नित्य आस्वाद्य बना रहे।

शुद्ध प्रेम को प्राप्त करना सर्वसाधारण के लिए सहज नहीं है। प्रेम का पथ अत्यन्त कठिन है। कबीरदास ने भी कहा है- 'यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।' प्रेम पंथ की रीति का आदि से अंत तक निर्वाह करना बालू की भित्ति उठा देने के समान अत्यन्त दुष्कर कार्य है। प्रेम को स्वीकार किये बिना जीवन जीना भी व्यर्थ है मनुष्य का मन अत्यन्त चंचल है। वह केवल प्रेम के वश में आ सकता है। प्रेम के अंकुश से ही वह नियन्त्रित रह सकता है-मन तें चंचल नाहिं कछु, नैकु न कहुँ ठहरात। तब ही तौ 'ध्रुव' होत बस, परै प्रेम की घात।⁸

भक्ति पथ पर चलते हुए प्रेम पथ का अनुसरण अनिवार्य है। भक्त के लिए प्रेम का विशिष्ट महत्त्व है। जिस प्रकार अनेक दीपक मिलकर भी अपनी ज्योति से सूर्य की समता नहीं कर सकते उसी प्रकार विविध भजन और ज्ञान की अनेक पद्धतियाँ मिलकर भी प्रेमी की समानता नहीं कर

सकती। प्रेम की प्रभुता और गरिमा के साथ-साथ प्रेम पथ की विपरीतता तथा विलक्षणता का भी सुन्दर वर्णन श्री ध्रुवदास ने किया है-प्रेमी मलिन न होइ 'ध्रुव' जाकौ उज्ज्वल हीय।/इक रस जाके उर बसैं, रसिक लाड़िली-पीय।/उलटौ पंथ है प्रेम कौ, तहाँ रह्यौ मन हारि।/जसहू सुनि लागत बुरौ मीठी लागति गारि।।⁹... हारे ही रस पाइयै, उलटी प्रेम की चाल।¹⁰अंग-अंग सब लाल के, झुकत प्रिया की ओर।/सहज प्रेम कौ ढार परयौ, बँधे नेह की डोर।/जिनके है यह प्रेम रस, सोई जानत रीति।/जौ हारै तौ पाइयै, नेह खेत में जीति।।¹¹

ध्रुवदास के काव्य में प्रेम के प्रत्येक पहलू पर विशदता से विचार किया गया है। प्रेम और विरह, प्रेम और नेम, प्रेम और काम, स्वसुख-तत्सुख, अनन्यता आदि के माध्यम से उन्होंने लौकिक और आध्यात्मिक प्रेम के रूप को चित्रित किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम नित्य मिलन के साथ शाश्वत रूप से सम्बद्ध है जो क्षण भर के लिए भी आनंद विहीन नहीं होता। प्रेम की नित्य नूतनता और आस्वादता के लिए इसमें अतृप्ति रूपी सूक्ष्म विरह की भी सृष्टि की गई है जिससे विरह-मिलन की संकीर्ण सीमाओं को मिटा कर प्रेम सर्वथा नूतन और मौलिक रूप को प्राप्त करता है।

वैष्णव सम्प्रदायों में विधि निषेध के रूप में नेम की स्वीकृति है परन्तु राधावल्लभीय दृष्टि प्रेम-नेम की स्थापनाओं के सम्बन्ध में सर्वथा विलक्षण है। नेम को ध्रुवदास ने तीन वर्गों में व्याख्यायित किया है। विहारपरक नेम, साधनापरक नेम और जागतिक नेम।

वृंदावन की निकुंजों में नित्य विहार दशा में राधा-माधव के विविध केलि विलास, मान-विरह आदि नेम के अन्तर्गत आते हैं। सिद्धान्त विचार चर्चा में ध्रुवदास ने कहा है कि- "अरू नेम अनेक भाँति हैं। कछु इक कहैं, देखिबौ, हँसिबौ, बोलिबौ, मान, निकुंजातर, किंवा निकट होइ, कोक के विलासादि सब प्रेम के नेम है। जाकौ आदि अंत होइ सो सब नेम जानिबौ।"¹² अर्थात् नेम अनेक प्रकार के हैं हास-परिहास, मृदु भाषाण और मान। कोक शास्त्र में वर्णित समस्त विलास आदि भी प्रेम के नेम हैं। अतः प्रेम अनादि और अनंत है और नेम सादि और सांत है, वह आकृति रूप और परिणाम रूप है। प्रेम की मधुर रस रूप में निष्पत्ति होने पर नेम प्रेम की अंतर्लान हो जाते हैं। जिसका आदि और अंत हो वह नेम है और जो अनादि और अनंत तत्त्व हैं, अविच्छिन्न हैं, एक रस रूप है- वह प्रेम है। यह प्रेम किशोरी-किशोर के अतिरिक्त अन्यत्र संभव नहीं हैं।

प्रेम को शाश्वत, अनादि, अनंत, एकरस मानकर प्रेम यंत्रित नेम को विहार की स्थिति में आदि अंत से युक्त वह

उपादान माना गया है जो प्रेम को प्रकाशित करने का माध्यम है। उसकी अभिव्यक्ति का साधन है और जिसके द्वारा प्रेम रस रूप में आस्वादित होता है। ध्रुवदास के अनुसार प्रेम और नेम एक ही तंतु से निर्मित ताना-बाना की तरह है। सोना प्रेम है और उससे निर्मित आभूषण नेम है। इनमें अनेक आभूषणों में सर्वत्र सोना एक रस प्रेम है। जिस प्रकार ताना और बाना मिलकर एक ही वस्त्र का निर्माण करते हैं, एक के अभाव में वस्त्र का निर्माण असम्भव है उसी प्रकार प्रेम और नेम में सतत् संयोग से ही प्रेम आस्वादित होकर एक रस रूप में निष्पन्न होता है। ध्रुवदास का मत है कि- "इहाँ कौ नेम ऐसौ है जु प्रेम सोभा पावै। एकरस समुझनो। जैसे ताना-बाना दोऊ मिलि एक पट भयौ। स्वाद के लिये नेम न्यारे कै कहे हैं। नेम प्रेम को साधन सो एकै जानिबौ। तातें दोइ नाम रस स्वाद के निमित्त परे। प्रेम, नेम। जैसे तंतु कौ तानौ-बानौ, न्यारौ कोइ नाहीं। और सोना है तातें भूषण करयौ सो नेम भयौ। सोना एक रस है सो प्रेम।"¹³

श्री युगल के विलास में एक ही वस्तु के दो नाम है- प्रेम और नेम। जो विशिष्ट रसास्वादन के लिये दो हैं। श्री राधा माधव के हृदय में प्रेम एवं मदन के दो सागर निरन्तर प्रवाहित रहते हैं। जब मदन (नेम) रूपी सिन्धु तरंगायित होता है तब श्री युगल चैतन्य होते हैं और जब प्रेम सिन्धु उमड़ता है तब गम्भीर प्रेम में निमग्न हो जाते हैं। इस प्रकार विलास के रंग में तन्मय हुए प्रेम और नेम से ओतप्रोत रहते हैं। प्रेम की स्थिति विवशता और नेम की क्रिया सावधानी है प्रेम और नेम कथन मात्र के लिए दो हैं, परस्पर एक ही है। श्री युगल कभी लीलाधीन होते हैं, तो कभी प्रेमाधीन-प्रेमदान के सिंधु द्वै, बहत रहत दिन हीय।/कबहुँ विबस चेतत कबहुँ, छिन-छिन प्यारी-पीय।।/छिन-छिन प्यारी पीय, मधुर रस विलसत ऐसैं।/सूक्ष्म प्रेम की बात, कहौ कोउ बरनै कैसें।।/यह सुख सखियनि बाँट परयौ, भूले 'ध्रुव' सब नेम।/इक रस फूली फिरति सँग, पाइ माधुरी प्रेम।।¹⁴

ध्रुवदास के काव्य में प्रेम की विभोर दशा और नेम की स्थिति का सुंदर चित्रण हुआ है। राधा-कृष्ण का सुख-संभोग, रति-क्रीड़ा में नुपुर व किंकिनी की मधुर झंकार, रूप की बेलि का प्रेम तमाल से लिपटना, अलकावली का छूटना, कंचुकी का दरकना, हार का टूटना, वाणी का आनंदातिरेक से गदगद हो जाना आदि क्रियाएँ विहारपरक नेम के अन्तर्गत आती हैं। इनकी स्थिति प्रेम की उन्मत्त दशा में ही मानी गयी है-रस ही की मूरति दोऊ, रसिक लाड़िली-लाल।/रस ही सौं चितवत रहैं, रस भरे नैन बिसाल।।/पिय परसत भुज मूल कर, और

उरज हिय हार । बूढ़ि जात मन रूप में, रहत न देह सँभार । । प्रेम नेम की दसा जिते उपजत, आनहिं आँन । रस-निधान विलसत रहैं, सुख कौं नाहिं प्रमान । ।¹⁵

छिन-छिन बाढ़त नेह नव, पल-पल रूप तरंग । । इक रस प्रेम छके रहैं, भीने रंग अनंग । । मोहे मोहन मैंन-रँग, चितवनि भौंहनि भाइ । । कबहुँ विवस चेतत कबहुँ, प्यारी प्यार उपाइ । । खेलत रहसि निकुंज में, अतिहि रहसि निजु केलि । । लपटी प्रेम-तमाल सौं, मनौं रूप की बेलि । ।¹⁶ विवस होत जब दोउ प्रिय, मोत प्रेम-अनंग । । रहति सहेली-सहचरी; सावधान नि संग । । अधर-अधर हिय सौं हियौ, उरजनि सौं पिय-पान । । अंगनि छ्वावत चेत भये, समुझत सखी सुजान । ।¹⁷

अतः प्रेम यंत्रित नेम और प्रेम में मूलतः कोई अंतर नहीं है, दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। केवल आस्वादन के लिए दो रूपों में परिलक्षित हैं। इनमें दिखाई देने वाला अंतर बाह्य है। प्रेम में नेम उसी प्रकार समाहित है जैसे रस में बिना गुठली और छिलके का फल। प्रेम की मधुर रस रूप में निष्पत्ति होने पर नेम प्रेम में ही अंतर्लीन हो जाते हैं। अतः जो परिवर्तनशील हो वह सब नेम है और जो सदैव एकरस बना रहे वह प्रेम है।

विहारपरक प्रेम और नेम का सम्बन्ध श्री राधा-माधव से है और साधनापरक प्रेम नेम साधक की साधना और उपासना से सम्बद्ध है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम तत्त्व को प्रधान मानकर समस्त नेम-तिथि-विधि, उपवास आदि का खण्डन किया गया है। उनका विचार है कि नेम द्वारा प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती-प्रगट प्रेम कौ रूप धरि, श्री हरिवंश उदार । । श्री राधावल्लभ लाल कौ प्रगट कियौ रस सार । । हरिवंश चंद सब रसिकजन, राखे रस में बोरि । । प्रेम-सिंधु विस्तारि कै, नेम-मेड़ दई तोरि । ।¹⁸

कवि का मत है कि जिस शरीर रूपी वन में प्रेम रूपी केहरि गरज रहा हो वहाँ गज, विहग, मृग आदि नेम भला कैसे रह सकते हैं। मन जब तक तीर्थ, व्रत, उपवास आदि बाह्याचार के प्रति उदासीन नहीं होता तब तक प्रेम की प्राप्ति असंभव है। जो साधक नेम-पालन में ही उलझा रहता है वह प्रेम के विकट पथ पर कैसे चल सकता है। प्रेम मार्ग में स्पर्शास्पर्श, संयम, व्रत, नेम आदि की पूर्ण उपेक्षा अपेक्षित है- जेहि तन बन गरजत रहै, अद्भुत केहरि प्रेम । । तामैं पावैं रहन क्यों, गज विहंग मृग नेम । । रहन न पावत और रस, जहाँ प्रेम कौ राज । । सकल सुखनि कौं दलमलैं, ज्यौं पंछिनु में बाज । । मन पंछी तब लागि उडै, विषय-वासना माहिं । । प्रेम बाज की झपट में, जब लागि आयौ नाहिं । ।¹⁹

प्रेम जिस हृदय में निवास करता है वहाँ अन्य किसी रस को नहीं रहने देता। प्रेम की विशेषता है कि वह दो हृदयों को मिलाकर एक कर देता है अर्थात् प्रेम अनन्य एवं अद्वैत है। उपासक को जब तक देह आदि विषयों की विस्मृति नहीं होगी एवं उसके मन में नेम (कर्म) के प्रति आस्था समाप्त नहीं होगी तब तक उस विषय एवं कर्म आस्थावान व्यक्ति को प्रेमी और उसके प्रेम को शुद्ध प्रेम नहीं कहा जा सकता- भूल्यौ नहिं अपनौ विषय, मिट्यौ न मन तें नेम । । तासौं 'ध्रुव' कैसे कहै, जानि बूझि कै प्रेम । ।²⁰

कोई भी मनुष्य कितने ही व्रत, उपवास, संयम, यज्ञ, वेद-पाठ, तपस्या आदि नियमों का पालन क्यों न करें यदि वह प्रेम भजन नहीं करता तो ये सब व्यर्थ है। प्रेम भजन के बिना उसे इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती- साधन करत अनेक जौ, कोटि-कोटि जुग जाहिं/तऊ न आवत प्रेम बिनु, रसिक कुँवर मन माहिं । । नव किसोर इक प्रेम बस, नाहिंन आन उपाइ । । अनेक चतुरई करौ किनि, बातें कोटि बनाइ । ।²¹

जिस भक्त के हृदय में महामधुर प्रेमलक्षणा भक्ति उदित हो जाती है उस साधक को नवधा भक्ति भी अच्छी नहीं लगती क्योंकि उदित होते ही समस्त नियम स्वतः ही तिरोहित हो जाते हैं। राधावल्लभ साधकों के अनुसार ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, आदि विधि-विधानों की अपेक्षा तभी तक होती है जब तक साधक का हृदय पूर्ण रूप से निर्विकार एवं विषय विमुक्त नहीं हो जाता। ज्ञान, भक्ति के द्वारा जब साधक के हृदय में परिपक्वता आ जाती है, विषय विकार दूर हो जाते हैं तब हृदय में माधुर्य भाव सदा के लिए समाहित हो जाता है।

भक्त को उपास्य की उपासना से पूर्व तन शुद्धि तथा सौन्दर्य को पूर्ण करना चाहिए तथा स्त्री के शरीर का भाव धारण करके विविध श्रृंगार करना चाहिए। ऐसा करते ही उपासक को श्री युगल के महल में सेवा का अधिकार प्राप्त हो जाता है-प्रेम सहित हुलसात सेवा स्यामा-स्याम की । । कीजै मन इहिं भौंति, दिन-दिन अति अनुराग सौं । । प्रथमहिं मज्जन कीजियै, सौरभ अंग लगाइ । । ता पाछैं रचि-पचि करै, सुंदर तिलक बनाइ । । तिय के तन कौ भाव धरि, सेवा हित सिंगार । । जुगल-महल की टहल कौ, तब पावै अधिकार । ।²²

ध्रुवदास का मत है कि भक्त केवल सदाचार के लिए, आदर्श और पवित्रता की रक्षा के विचार से आचार करे परन्तु मन में यह विश्वास न धारण करे कि इसी आचार पालन से उसकी इष्ट सिद्धि हो जायेगी। तब श्री युगल के लिए रसोई पाक करे तब यथासंभव आचार अवश्य करे। प्रसाद ग्रहण करने के लिए अधिक आचार अपेक्षित नहीं क्योंकि इष्ट-प्रसाद

स्वयं कोटि-कोटि आचार स्वरूप है। इसके अतिरिक्त अति आचार (विविध विधि-विधान) तो अनाचार के समान है। बहुत आचार करने से हृदय कठोर हो जाता है। रस भक्ति, माधुर्य भक्ति अत्यन्त कोमल है। अतः कोमल और कठोर दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इसलिए ध्रुवदास ने उस सीमा तक आचार पालन करने के लिए कहा है जहाँ तक वह भक्त के आचरण में पवित्रता और शुद्धता को बढ़ाने में योग दे सके।

‘सिद्धान्त विचार लीला’ ग्रंथ में श्री ध्रुवदास कहते हैं कि- “तब एक ने कही आचार न करै? थोरो बहुत करै सदाचार के लिये। जब श्री जी की सेवा-पाक करै तहाँ आचार करै, जैसों संभवे। अपने प्रसाद पाइबे को बहुत आचार न करै। प्रसाद की कोटि आचार कौ स्वरूप रूप है। भोग लागे पाछें बहुत आचार उचित नाहीं। शास्त्र हूँ में कहीं है; अति आचार अनाचार समान है। वैष्णव सदाचार के लिये आचार करै। श्री जी की टहल कोटि आचार कौ रूप है। बहुत आचार तें हियौ अति कठोर होइ जाइ है। यह भजन अति कोमल है, कोमल, कठोर एक संग न बनै। यह रस अति कोमल है। माखन सौं माखन मिलै कठोरता न चाहियै। कठिन साधन सौं सुद्ध भक्ति हू न पावै तो यह महामाधुर्य रस कैसे पावै?”²³

जिस लीला धाम वृंदावन में श्री युगल नित्यविहार करते हैं वहाँ साधक को अन्य किसी साधन की जरूरत नहीं है। सनातन और नित्य सुख की प्राप्ति भक्त को श्यामा-श्याम की नित्य लीलाओं के ध्यान और चिंतन से ही होती है। अन्य किसी साधन से नहीं। भक्ति स्वयं ही रस रूप है। हृदय में भक्ति का उदय होते ही अन्य सभी नेम स्वतः ही दूर हो जाते हैं जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधकार मिट जाता है।

जागतिक प्रेम और नेम के विषय में राधावल्लभीय संप्रदाय में अधिक विचार नहीं हुआ है। जागतिक प्रेम से तात्पर्य कर्मकांड आदि से है। युगल के अनुपम रूप माधुर्य की छटा हृदय में बसने पर भक्त के नेत्र अश्रु विगलित हो जाते हैं, वाणी व्यथित हो जाती है। आत्मसुधि से भक्त बेसुध हो जाता है। वक्ष एक मात्र प्रियतम के दर्शनों की चाह उसके हृदय में रहती है। जीवदशा, मन शिक्षा आदि ग्रंथों में कवि ने जागतिक प्रेम-नेम को निस्सार बताकर रस साधना के लिए उसे त्याज्य बताया है।

अतः कहा जा सकता है कि राधावल्लभीय संप्रदाय में विहारपरक नेम, प्रेम का अनिवार्य पोषक तत्त्व है। साधनापरक नेम, रस साधना से पूर्व भक्त की चित्तवृत्तियों को संयमित करने की दृष्टि से केवल प्रारंभिक काल में कुछ समय के लिए उपयोगी हो सकता है। जागतिक प्रेम में अलौकिक व्यवहारपरक, कर्मकांड पर आधारित होने के कारण त्याज्य है।

अतः ध्रुवदास का मत है कि प्रेम तो प्रेम है और अवर्णनीय है। प्रेम के अनेक प्रकार हैं, विधायें हैं। वह लौकिक, पारलौकिक, अकाम, सकाम, एक सर्वकाम अनेक प्रकार का है। इनमें उत्तम कोटि का प्रेम वही है जहाँ उपासक के हृदय में श्री युगल की पारस्परिक तत्सुखमयी प्रीति सदा हिलौरे लेती रहती है। प्रेम की घाटी बड़ी टेढ़ी है, साथ ही बड़ी अटपटी अर्थात् जटिल है। प्रेम के पथ पर नेत्र रूपी पाँवों (रूप दर्शन के मार्ग) से चलना होता है। लोक तथा समाज की मान्यताएँ एवं वेद के विधि निषेधादि धर्म ही सुदृढ़ लौह शृंखलाएँ हैं इनके बंधन से मुक्त होकर ही प्रेम-पथ पर चलना संभव है।

संदर्भ-

1. श्रीहित ध्रुवदास, बयालीस लीला, (अनुवादक : श्री हितदास), पृ. 546, प्रकाशक श्रीहित साहित्य प्रकाशन, वृंदावन, द्वितीय संस्करण।
2. वही, पृ. 118
3. वही, पृ. 156-157
4. वही, पृ. 126
5. वही, पृ. 57
6. वही, पृ. 158-159
7. वही, पृ. 160-161
8. वही, पृ. 65
9. वही, पृ. 69
10. वही, पृ. 440
11. वही, पृ. 452
12. वही, पृ. 119
13. वही, पृ. 128-132
14. वही, पृ. 132
15. वही, पृ. 615
16. वही, पृ. 625
17. वही, पृ. 627
18. वही, पृ. 450
19. वही, पृ. 157
20. वही, पृ. 158
21. वही, पृ. 190
22. वही, पृ. 188
23. वही, पृ. 143-148

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

जन-संवेदना से सराबोर हिन्दी नवगीत

डॉ. मंजू बाला

कविता हमारे अंतःकरण की ऊर्जा है। वह हमारे अंतर्नाद का प्रस्फुटन है। कविता हमारी सहचरी है और वह हमारे प्राणों का रागात्मक संवेदन है। हृदय के भीतर से उठा हुआ रागबोध जब बुद्धि के धरातल पर लयबद्ध होकर शब्द-संस्तुति के साथ आकार लेता है तो होठों पर गूँजती हुई कविता समाज के धरातल पर खड़ी होती है। कविता जिंदगी के संघर्ष का मुखर पड़ाव है।

कविता अपने युग के घात-प्रतिघातों को सहती हुई उन्हें इतिहास के पन्नों पर दर्ज करती है। तभी तो कविता मनुष्य की आह और कराह का दस्तावेज है। वह एक ऐसा आईना है जिस पर जिन्दगी के चलचित्रों का लेखा अंकित होता है। कविता शब्दों से खेलती हुई संवेदना के नित्य नये स्वर फूँकती है जिसमें यदि छंदों-अलंकारों की सजावट है तो प्रतीकों एवं बिम्बों की बुनावट भी मौजूद है। कविता हमारा जीवन-दर्शन है। वह धरती और आकाश के सन्नाटे को तोड़ती भी है और टूटी हुई सांसों को जोड़ती भी है।

कोई कहता है कि नवगीत में लय एवं विचार होना चाहिए तो कोई कहता है कि भाव, राग और छंद की अन्विति के बिना गीत का स्वरूप ही क्या रह जायेगा? यह रस्साकशी या वैचारिक लामबंदी नवगीत के लिए एक चुनौती है मगर नवगीत अपने पूरे तात्विक परिवेश को समेटे हुये नये युग की देहरी पर दस्तक दे रहा है। अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य को बचाने के लिए गीत-नवगीत को बचाये रखना होगा क्योंकि गीत या कविता ही मानवता के रागात्मक इतिहास का साक्षी है और प्रणेता भी। यह बात सर्वमान्य है कि सौंदर्य सामंजस्य में है न कि टूटन का विघटन में। हमें जीवन-मूल्यों की तलाश के लिए मानव दर्शन करना जरूरी होगा। इसीलिए नवगीत अपनी नवता के साथ आंचलिकता के स्वर लेकर कहन और गठन के स्तर पर नये-नये प्रयोग करता रहा है लोकधुनों व लोकगीतों की स्वर-साधना से प्रभावित ये नवगीत भारतीय

संस्कृति की कोड़ में पल-पोसकर जीवन के यथार्थ को सामाजिक धरातल पर उतारते रहे हैं।

परिवेश के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध गीत-कवि की संचेतना मनुष्य अन्तर्वाह्य को पोर-पोर खंगालती है क्योंकि उसके भीतर चेतना का एक प्रवाह है उसमें एक विद्युत कौंध है। कवि उसी रोशनी में पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं की सीमा को तोड़ता हुआ नये की तलाश करता है। आँख बन्द करके आचरण का वह पक्षधर नहीं है। वह तलवार की धार पर चलना जानता है। मनुष्य की संवेदना को तीखा, पैना और द्रवित रखना उसे आता है। डॉ. सुरेश गौतम के शब्दों में- “घुटन, संत्रास, कुंठा के त्रिमुखी दर्शन को गत मानसिकता ने गहरे में छाना है, तेजस्वी व्यूह वृत्तों से घिरे असंगत जीवन के वृत्तों की अजगरी गिरफ्त में बँधी व्यक्ति की छटपटाहट इसी संस्कारहीनता के कारण जटिल और दुर्बोध हो गयी है। आदमखोर हवाएँ युगीन बोध का संस्कार है। इन्हीं संस्कारों के परिवेश निर्मित का थकान बोध आज हर चेहरे का खौफजदां मुहरम है। धमनियों में उग बाँस बन, आपसी टकराहट तथा रगड़ से वह धूँ-धूँ जल रहे हैं। बात की तरह, खोखले इस परिवेश का अग्निनर्तन युगबोध की व्यापक गूँज है।”¹ यथा- तन गर्यी हैं इस कदर युग की मान्यताएं/घुट गया है गत का जीवन/अरे, मन! सांस धीमे ले/बढ़ेगी और जकड़न सामने है व्यंग्य, पीछे/विष भुजा परिहास/आदमखोर शब्दहीनता वेदना को/दीनता सायास/दोहरा शोर/खींचता है अजगरी संत्रास भूखा/मुट्टियों का बंद खालीपन अचेतन/धमनियों में तैर जाता बाँस का वन।²

नई इच्छाओं, आकांक्षाओं, रूढ़ियों, परम्पराओं तथा जीवन और मृत्यु के बीच अपने गीत मन को खड़ा का सत्यान्वेषी की भाँति कुछ टटोलते दिखाई पड़ते हैं। हालांकि जीवन में जो जोड़-तोड़, षड्यंत्र, वैषम्य, असंगति, सुविधाजीवी लालसा, मौन और दरिद्रता की स्थितियां दिखाई पड़ती है

उनके धरातल पर मनुष्य की कोमल संवेदनाओं का जीना दूभर है। इस जनतंत्र के लुभावने नारों के बीच नुचती अस्मिता, आश्वासनों की सड़ांध, घुटती सांसे पसारे बैठा व्यक्ति, घड़ियाली आंसू बहाने के सिवा और कर ही क्या सकता है? उसकी कुठित भावनाएं एवं आकांक्षाएं विवशता और नैराश्य के घेरे में बंधी लगती है। समूचा परिवेश कुंठाग्रस्त एवं अभिशप्त हैं। वस्तुतः यह जीवन के बिखराव का रोदन है। उजाले की तलाश में अँधी गली होकर गुज़रना स्वैच्छिक नहीं, मजबूरी है। आशा-निराशा के झूले में झूलता हुआ मनुष्य पतझरों का वाहक बन जाता है। ये कुंठाएं कई रंगों में अपनी संवेदना व्यक्त करती हैं- निकली पतझर की फैलायीं सारी अफवाहें झूठीं/ललछौहीं रंगीन कोपलें टहनी-टहनी पर फूटी/प्रेमपत्र से अटकी ताजी/कोर-कोर किरणों ने आंजी/हवा कर रही कानाफूसी /दुपहरिया है फिरती ऐंठी/कल की शाखाएं परित्यक्ता/ लाजोलाज आज अनुरक्ता/ग्रह, नक्षत्र गोद भरने के झक मारे किस्मत रूठी/घनी छांव घर आंगन वाले/बहन, बेटियां, भाभी, साली/बतरस रस पीती छलकार्ती/ज्यों गहरी छाने बूटी।⁵

द्वन्द्व की बुनावट में ज़िन्दगी के सच छिपे रहते हैं। ये भीतर की नागफनी टूटने, मर्मान्तक मनोव्यथाएं ही आस्था का पथ निर्मित करती हैं। मूल्यहीनता की आंच में जानी-पहचानी आवाजें भी जब खोने लगती हैं तो विपरीत हवाओं की तरह लोग सिर धुनने लगते हैं। कुण्ठाएं हर शान्त मन को अपनी अभिशप्त जंजीरों में किसी को भी बांध लेती हैं। यह अभावग्रस्त जीवन जो अनेक आघातों और बंधनों की चोट से असह्य प्रतीत होता है वही मुक्ति के द्वार भी खोजता है। श्रीकृष्ण शर्मा के शब्दों में- कुछ कहो मत/किन्तु ऐसे चुप रहो मत /दर्द है/तुम कुछ कराहो/दुःखी हो/आंसू बहाओ/क्षोभ है चीखो/मगर तुम इस तरह भीतर दहो मत/भीड़ का/आक्रोश बन उभरो/लेकिन यूँ अकेले/तुम सलीबों को सहो मत⁴ अथवा- मसले वही पुराने बासी/हित-अनहित सब अपने-अपने अपनी-अपनी मथुरा काशी/बिना तेल के जले कहाड़ी/चारण चौकीदार महल के छान रहे हैं भांग।⁵

व्यक्तिगत अथवा सामाजिक संकट की स्थितियों या षड्यन्त्रों को उखाड़ फेंकने के लिए प्रतिबद्ध कवि हर आत्मघाती स्थितियों का सामना करता है और अपनी विद्रोही भावनाओं की खुलेआम अभिव्यक्ति करता है। आत्मद्वन्द्व, संघर्षबोध और नैराश्य की पीड़ा के बीच नवगीतकार ने हर यातना का प्रतिदान खोजा है क्योंकि वह तनाव के टूटने और बिखरने को अंजाम नहीं देना चाहता जबकि उसका व्यक्ति तनाव और विसंगत स्थितियों से यातनाग्रस्त है। स्पष्ट है कि ऐसे क्षणों

में वह अपने आक्रोश को व्यक्त करता है और संयत अभिव्यक्ति देता है। रमेश रंजक लिखते हैं- “पेट के कहे/भांवर के से .../चलते ही रहे/पेट के कहे/हाथों ने जब किया विरोध/भीतर के आदम ने दिया नहीं क्रोध/ऐसे भी आये लम्हें/पांव चलते ही रहे।”⁶

नवगीतकार ने इन नवगीतों में व्यक्त आक्रोश को और क्रांति दृष्टि को संप्रेषित करते हुए लोकमानस से जुड़ने का प्रयास किया है। वह लिखता है-कुछ न कहो तुम! तुम्हें देखकर समझ गये हम/बिना कहें/बिंध ग्लानि से/बंधे मौन से/व्यथित हुए तुम/दुःख की मार सहे/हाड़ फोड़कर/निकले आंसू/टप-टप बहुत बहे।⁷

नवगीत में जनचेतना की अनुभूति के प्रखर संवाहक केदारनाथ अग्रवाल, मुकुट बिहारी सरोज और रमेश रंजक आदि तक में विद्रोह के छद्म बोल बोलती हुई कोई रचना शायद ही मिले। निम्न व मध्यवर्गीय ज़िन्दगी के दर्शन कस एक-एक चित्र और उन दर्शनों के विरोध में उठे हाथ, उनकी संवेदना नवगीत में सम्यक् रूप से संप्रेषित होती है।

मनुष्य के जीवन में तरह-तरह की कामनाएं होती हैं। वह उनकी पूर्ति के लिए प्रयास भी करता है किन्तु परिस्थितियां उसका साथ नहीं देती और इच्छाएं अधूरी रह जाती हैं। यह वर्तमान जीवन की सबसे बड़ी विसंगति है जिसमें जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार की विसंगतियां मनुष्य के भीतर निराशा और अवसाद की स्थिति पैदा कर देती हैं। मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन और व्यक्तित्व के विघटन एवं गिरावट के कारण मनुष्य में निराशा और पलायन की प्रवृत्ति बढ़ रही है। जीवन की विसंगतियों से टकराकर आदमी भीतर-भीतर टूटता जा रहा है। उसमें विषम परिस्थितियों से जूझने की हिम्मत कम हो रही है और वह संघर्ष के लिए पूरे मन से तैयार नहीं हो पा रहा है।

अज्ञेय भी ऐसी विषमता और समानता से टकराने की दम खंगालते हुए आदमी की तलाश में खोये हुए हैं किन्तु निराशा से भरे आदमी के पलायन को रोक पाना भी कठिन है। वे लिखते हैं- “सुख मिला उसे/हम कह न सके। संस्पर्श बृहत् का उतरा सुरसरि-सा/हम बह न सके/यों बीत गया सब, हम मरे नहीं/पर हाय कदाचित/जीवित भर हम रह न सके।”⁸

अतएव, आज की कविता समकालीन संकट से जुड़ी हुई कविता है। जीने की शर्त और सार्थकता के प्रश्नों ने मनुष्य को जिन चुनौतियों और अस्तित्व की खोलती हुई बेलौस स्थितियों से भिड़ा दिया है। उन्हीं से संकट पैदा हुआ है जो आज के प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति का संकट है। यह

बाहर का नहीं, भीतर का भी संकट है बल्कि बाहर के संदर्भ में भीतर का संकट है। इस संकट की अभिव्यक्ति कविता में कई रूपों में होती रही है। यथा- “जरा हवा चलती है/कहीं एक पत्ता/पट्ट से/गिरता है जमीन पर/और एक छपती हुई कविता/अपने टाइप और फर्मे से छिटककर/हो जाती है अलग/एक अच्छी कविता/तरस खाने लगती है/अपने अच्छे होने पर/एक महान कविता/ऊबने लगती है/अपनी स्फटिक गरिमा के अन्दर।”⁹

सामाजिक परिवेश में जीते हुए राष्ट्रीय विसंगतियों को बड़ी ही बेचैनी और सावधानी के साथ नवगीतकार ने संप्रेषित किया है। उसके संप्रेषण में अनुभूति और भाषा का सामंजस्य है साथ ही मानव चेतना के प्रति आस्था है।

नवगीत यथार्थमुख काव्य है। उसमें आदर्शवादी और कल्पनावादी पलायन, प्रकृतिवादी असामाजिकता और अश्लीलता, व्यक्तिवादी स्वच्छन्द रोमानियत, अतिथथार्थवादी आन्तरिक लोक की झूठी परिकल्पना और अस्तित्वाद के अतिरिक्त दुःखवाद और नियतिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। वह जीवन के भोगे हुए अनुभवों को अभिव्यक्त करता है। नवगीत का यथार्थ है जो अधिकांशतः समाज की शोषित पीड़ित निम्न मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय जनता के आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक दुःख-दर्द की प्रामाणिक अनुभूतियों को आम जनता की बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्ति करता है।¹⁰ इस लोकतांत्रिक भारतीय समाज में व्यक्ति बाज़ारू हो चुका है जो वस्तु से भी सस्ता है। भय और आतंक के परिवेश में उसका जीना मुश्किल है। समकालीन नवगीत में मनुष्य की पीड़ा को कवि ने यथार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है। ग्राम्य जीवन की विसंगतियों और महानगरीय संस्कृति के पराभव को देखते हुए उपभोक्तावादी संस्कृति के दौर में इस सभ्यता की यांत्रिक त्रासदी उजागर हो रही है। एक ओर झुग्गी-झोपड़ियों और दूसरी ओर अट्टालिकाओं के मध्य जो विसंगति है वह अब टूटने वाली भी नहीं दिखाई देती। कण्डे पाथने वाली पर्वती से लेकर बूढ़े वैरागी तक या बेटी लखमिनियां से लेकर चमरौटी के गोबर और धनिया तक के मध्य गरीबी और भुखमरी सीना ताने खड़ी है जिसे नवगीत ने भाषा दी है और उनकी संवेदनाओं को भरपूर संप्रेषण दिया है। नवगीत की संप्रेषणीयता को स्थापना देते हैं- गाँव के पंच, प्रधान, तहसील, कचहरी, हत्या, अपराध, जुआं और खेतों, बागों तक होने वाले नंगे नृत्य जो नवगीत के यथार्थ प्रसंग बने हैं और जिन नवगीतों में विसंगतियों का दर्द और सामाजिक जीवन की पीड़ा रूपाकार हुई है- “कब तक इस आग में जले/लाओ कोई

सांचा लाओ/कैसे भी मूल्य में ढलें/पिघलने लगी दृढ़ता जिद्दी संकल्पों की/स्वप्नों का इन्द्रधनुष सुलगने लगा/टूटने लगे टांके अपराजित कवचों के/विश्वासों का साया अलगने लगा/अपनीली आँखों में भर गया धुआं और कहां भागकर चलें।”¹¹

नवगीत इतिवृत्तात्मक या उपदेश का काव्य नहीं है। वह दर्द के पृष्ठ पर नये चित्रों को उकेरकर जीवन की सच्चाई को संप्रेषित करने वाला काव्य है। नवगीत मानवीय चेतना और दुःख का आईना है। गरीबी, पीड़ा, दर्द और अन्य विसंगतियों की बहुमंजली अट्टालिकाओं को चित्रित करते हुए नवगीत शोषण और अन्याय से मुक्त विश्व मानव की विराट मूर्ति गढ़ना चाहता है जिसमें न जाति भेद है, न रंग-भेद या सम्प्रदाय भेद। नवगीत ने सदैव नवगीतकार के समूचे व्यक्तित्व को आंका है। उसने वर्तमान मनुष्य की व्यक्तिगत एवं पारिवारिक पीड़ा का खुलासा किया है- ‘कब तक रहना होगा/घुटन भरी खोह में/लगता है भीतियां/सिमटती-सी आती है/मेरी ही प्रतिध्वनियां/मुझको चौंकाती है/घूम रही घबराहट प्राणों की टोह में/वहिरन्तर लिपटा है इस कदर पुरानापन/भस्म हुई अर्थी के/हाथ पड़ा जो कंगन/कोई भी शक्ति नहीं दिखती विद्रोह में/कब तक रहना होगा घुटन भरी खोह में।’¹²

नवगीत जनबोध की परिधि में अपनी सहायता लेकर आया है जिसमें मंचों की नारेबाजी है, समूहों की दलबन्दी है और पूँजीपतियों के वैभव का कुठाराघात है। चूँकि गीत अपनी भावपरिधि से उठता है और फिर वह सारे परिवेश को आच्छादित करता हुआ आम आदमी की ज़िन्दगी के करीब उतरता है इसलिए उसमें नई कविता जैसा ओढ़ा हुआ संत्रास, अजनबीपन, कुण्ठा, आक्रोश के प्रभाव और दुर्भाव से उठने वाला विसंगतियों के दृश्य विद्यमान हैं- ‘हम ठहरे गाँव के/बोझ हुए रिश्ते सब/कंधों के पाँव के/भेदभाव सन्नाटा/ यह साही का कांटा/सीने के घाव हुए/सिलसिले अभाव के।’¹³

इस प्रकार विसंगतियों के घेरे में नवगीत का व्यक्तित्व मुखरित तो हुआ मगर पीड़ा और संत्रास की गहन वेदनाओं के साथ जिसकी संप्रेषणीयता सचमुच स्तुत्य है क्योंकि उसने चेतना के दर्द और समाज की विसंगति को अपनी आँखों से निहारते हुए गहरी पड़ताल की है।

संत्रास की अनेक स्थितियों के बीच नवगीत ने रोजमर्रा के उतार-चढ़ाव को सत्यापित करने की भरपूर कोशिश की है। आज के संदर्भ में मनुष्य को रोटी, प्रेम और व्यवस्था का अभाव है, जहाँ रोटी उसके हाथों से छीनी जा रही है वहाँ प्रेम पर

बंदिशें और पहरे लगे हुए हैं तथा व्यवस्था ने घर के आंगन से लेकर बाज़ार तक सड़कों, गलियारों से लेकर अस्पताल स्टेशनों तक साधनहीनता की स्थिति पैदा कर रखी है। महँगाई ने तो जैसे कमर ही तोड़ दी है- 'पग-पग पर आहत समझौते/दादी मां की पान-सुपारी/पिछली पहरी हुई उधारी/अब घर में हैं सिर्फ सरोते/जीवन किसी मुकदमें जैसा/तारीखों पर हैं तारीखें/चीर गया मन का सन्नाटा/बधिक कहाँ सुनता है चीखें'¹⁴

नये मन-मोह के वशीभूत ग्रामीण भारतीयों का नगरों, शहरों और महानगरों की ओर पलायन जहाँ सांस्कृतिक संकट उत्पन्न कर रहा है वहाँ हमारी संस्कृति के मूल्यों को भीतर ही भीतर कुतर रहा है। संशय, तनाव, व्यस्तता, भीड़, निराशा, कुण्ठा, संकट इत्यादि के आक्रमण महानगरीय संत्रास को चित्रित कर रहे हैं। यह सतही सामाजिकता का शहरीपन संदेह के घेरे में है। इच्छायें और अभिलाषायें तनाव या कुण्ठा के रूप में परिवर्तित हो गयी हैं। वातावरण के संत्रास से त्रसित कवि मूल्यों की तलाश में अस्त-व्यस्त है- 'भागती हुई ज़िन्दगी का/हर भोग हुआ क्षण/एक नया उपक्रम है/स्वयं से टूटने की तरफ'¹⁵

इस प्रकार आस्था-अनास्था, आशा-निराशा, तथा अन्तर्द्वंद्व और बहिर्द्वंद्व के संघर्षण से मुक्त होने की कोशिशें करता हुआ आज का आदमी परिस्थितियों से जूझ रहा है जिसके लिए नवगीतकार को एक नये क्षितिज की तलाश है जहाँ रोटी और प्रेम अपनी व्यवस्था के दो समर्थ किनारों पर मानवीय संवेदना का पोषण कर सकें।

निष्कर्ष यह है कि नवगीत ने आधुनिक त्रासदी से जूझते मनुष्य की संवेदना को सामान्य पाठकों तक संप्रेषित ही नहीं किया है, बल्कि मनुष्य की कुंठा, अतृप्ति, विघटन, तनाव, अलगाव, अहमंयता, आक्रोश, पलायन, संघर्ष इत्यादि

वृत्तियों का प्रकाशन करते हुए इस उपभोक्तावादी संस्कृति के दौर में मनुष्य को उसके अधूरेपन में देखने की जिज्ञासा भारतीय नहीं, बल्कि इसकी दृष्टि सदैव समूचे व्यक्तित्व की पारखी रही है।

संदर्भ-

1. काव्य परिदृश्य : अर्द्धशती पुनर्मूल्यांकन, खण्ड-दो, सुरेश गौतम, पृ. 223
2. गीत विहग उतरा, रमेश रंजक, पृ. 48
3. पथराई आँखें, नईम, पृ. 81
4. नये-पुराने (गीत अंक 4), (सं.) दिनेश सिंह (कवि-श्रीकृष्ण शर्मा), पृ. 99
5. नये-पुराने (गीत अंक 4), (सं.) दिनेश सिंह (कवि-रामसेंगर), पृ. 106
6. हरापन नहीं टूटेगा : रमेश रंजक, पृ. 79
7. अपूर्वा, केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 31
8. इन्द्रधनु रौंदे हुए, अज्ञेय, प्रथम सं. 1956, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, पृ. 73
9. समकालीन हिन्दी कविता, सं. परमानन्द श्रीवास्तव (कवि : केदारनाथ सिंह), पृ. 146
10. नवगीत के प्रतिमान तथा आयाम, डॉ. उमाशंकर तिवारी, पृ. 18
11. गीत फूल हैं (प्रकाश्य), मधुकर खरे, पृ. 14
12. गलियारा गाँव का (प्रकाश्य), हरेन्द्र बहादुर सिंह 'हरेन्द्र', पृ. 12
13. नवगीत के प्रतिमान तथा आयाम, डॉ. शिवनारायण सिंह/डॉ. उमाशंकर तिवारी (कवि देवेन्द्र कुमार), पृ. 70
14. बीसवीं सदी के श्रेष्ठ गीत, (सं.) मधुकर गौड़ (कवि-यशमालवीय), पृ. 151
15. गीत-1, भूपेन्द्र कुमार सनेही, पृ. 24

29/एल, मॉडल टाउन, रोहतक(हरियाणा)

हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धकार : कुबेरनाथ राय : एक परिचय

लवलीन कौर

कुबेरनाथ राय भारतीय संस्कृति, लोकसंस्कृति या लोकायतन सांस्कृतिक क्षेत्र के विशेष अध्येता तथा अन्वेषक रहे हैं। श्री कुबेरनाथ राय अद्वितीय ललित निबंधकार हैं। हिन्दी की ललित निबंध विधा शुक्लोत्तर निबंधों की विकास यात्रा का एक नवीन अध्याय है। श्री राय ने सैकड़ों निबंध, लेख, रिपोर्टाज इत्यादि लिखकर हिन्दी-गद्य तथा निबंध विधा को समृद्ध किया है तथा अपनी लेखनी द्वारा आधुनिक एवं नूतन युगबोध को मुखरित करने का प्रयास भी किया है। इनके निबंधों की पृष्ठभूमि भले ही पुरातन क्यों न हो, किंतु इनके भाव, विचार, इनकी कल्पना, शैली इत्यादि सभी अपने आप में आधुनिकता लिए हुए हैं। इनके निबंधों ने हिन्दी की कई पत्रिकाओं को सुसज्जित किया है, कई हिन्दी-पाठकों को निबंध पढ़ने के लिए मजबूर किया है और कई सम्पादकों को इनकी अहिर्निश माँग करने के लिए विवश किया है। ललित-निबंधों की उन्नत कला के पारखी श्री कुबेरनाथ राय आज के उदीयमान निबंधकार होते हुए भी हिन्दी-पाठकों के हृदय में प्रवेश कर चुके हैं और उनके मन पर अपना आसन जमा चुके हैं।¹ यही कारण है कि कुबेरनाथ राय ललित-निबंध लेखकों में उच्च स्थान के अधिकारी हैं।

श्री राय का जन्म 26 मार्च, 1933 ई. दिन रविवार को उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर जिले के मतसा नामक गाँव में एक ब्राह्मण कुल में माता श्रीमती लक्ष्मी देवी एवं पिता पं. बैकुंठनाथ राय की प्रथम संतान के रूप में हुआ था। श्री राय की प्रारम्भिक शिक्षा अपने गाँव मतसा के प्राइमरी स्कूल एवं ढढ़नी मिडिल स्कूल में तथा हाई स्कूल की श्री शिवपूजन इण्टर कॉलेज, मतसा में कृषि विज्ञान से और इण्टर-मीडिएट की क्वीन्स कॉलेज वाराणसी से विज्ञान वर्ग में हुई। बी.ए. की पढ़ाई काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य, दर्शन एवं गणित लेकर पूरी की थी। एम.ए. अंग्रेज़ी साहित्य में कलकत्ता विश्वविद्यालय से पास किया और वहीं से हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की 'साहित्य-रत्न' परीक्षा भी पास की

थी। एम.ए. की पढ़ाई के दिन इनके लिए कठिनाई भरे थे परन्तु प्रारम्भ से ही ये पढ़ने में मेधावी थे। प्राइमरी स्कूल, मिडिल स्कूल एवं हाई स्कूल की परीक्षा में ये स्कॉलरशिप होल्डर रहे। एम.ए. पास करने के बाद विक्रम विद्यालय हावड़ा में कुछ दिन अंग्रेज़ी अध्यापक रहे फिर 1959 में नलवारी कॉलेज, नलवारी (असम) में अंग्रेज़ी व्याख्याता नियुक्त हुए। वही अपने जीवन के पच्चीस वर्ष अंग्रेज़ी व्याख्याता और विभागाध्यक्ष के रूप में बिताये। वहाँ का राजनीतिक माहौल बदल जाने के कारण असम छोड़कर 9 वर्ष तक स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय, गाज़ीपुर में प्राचार्य पद पर कार्य करके 30 जून, सन् 1995 को सेवामुक्त हुए थे।

श्री राय ने पढ़ाई के साथ-साथ अपना लेखन कार्य भी जारी रखा। जब आठवीं कक्षा में थे तभी 'विशाल भारत' और 'माधुरी' में निबंध निकले थे फिर क्वीन्स कॉलेज की 'साइन्स' मैगज़ीन का सम्पादन हो या काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की 'प्रज्ञा' या कलकत्ता यूनिवर्सिटी जनरल, अंग्रेज़ी साहित्य के निबंध सभी में छपते गए।² इन्होंने प्रारम्भ में अंग्रेज़ी भाषा में ही लिखना शुरू किया किंतु श्री बालकृष्ण राव के सुझाव से हिन्दी में लिखने लगे। वे अपने भैया के लेखन कार्य से प्रभावित थे और समय-समय पर उन से पत्र-व्यवहार भी करते थे। चतुर्वेदी जी की प्रेरणा से इन्होंने- 'धर्मयुग', 'कल्पना', 'ज्ञानोदय' इत्यादि हिन्दी पत्रिकाओं के लिए लिखना शुरू किया। मृत्युपर्यन्त लेखन और अध्ययन कार्य इन्होंने चालू रखा। यहाँ तक कि बीमारी की हालत में भी यह पढ़ते-लिखते रहे और एक दिन 5 जून, 1996 ई. को हृदयाघात से मतसा में ही इनका निधन हो गया।

श्री राय अध्ययनशील, चिंतनशील और मननशील व्यक्तित्व के धनी थे। इनके ललित निबंध निश्चय ही हमारी भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं, धारणाओं, मान्यताओं को प्रदर्शित करते हैं। इन्होंने अपने निबंधों के माध्यम से भारतीय जन-जीवन की एक मनोरम झलक प्रकट की गयी है तथा

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व का प्रचार-प्रसार किया है। श्री राय ने 1962 से अपना लेखन कार्य आरम्भ किया तथा इस लेखन के बदले उन्हें 11 पुरस्कार तथा सम्मान भी प्राप्त हुए हैं।

श्री राय अपने आत्माभिव्यंजक शैली में लिखे गए निबंधों को ललित निबंधों की संज्ञा देते हैं। श्री राय हिन्दी निबंध के क्षेत्र में एक ऐसा नाम है जो केवल ललित निबंध के लिए ही समर्पित है। उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं- 'प्रिया नीलकण्ठी', 'रस आखेटक', 'गन्धमादन', 'निषाद बाँसुरी', 'विषाद योग', 'पर्णमुकुट', 'मनपवन की नौका', 'किरात नदी में चन्द्रमधु', 'दृष्टि अभिसार', 'कामधेनु', 'मराल', 'महाकवि की तर्जनी', 'पत्र मणिपुत्र के नाम', 'उत्तरकुरु', 'द्वीपान्तर', 'त्रेता का बृहत्साम', 'लौह मृदंग', 'चिन्मय भारत', 'अन्धकार में अग्निशिखा', (उनके स्वर्गवास के पश्चात् प्रभात प्रकाशन, दिल्ली से फरवरी 1998 में प्रकाशित) इत्यादि उनके मुख्य ललित निबंध हैं। उनकी रामायण पर आधारित पुस्तकों के नाम हैं- 'रामायण महातीर्थम्', 'वाणी का क्षीरसागर', 'मानस सुरधुनि के उस पार', 'कथामणि', (कविता-संग्रह), 'पुनर्जागरण का अंतिम श्लाका पुरुष' इत्यादि। इन निबंधों में एक ओर विवेचनात्मक स्वर और भावात्मक शैली का समन्वय है तो दूसरी ओर युग जीवन की समस्याओं के समाधान की दिशाएँ और आधुनिक संदर्भ में सम्पूर्ण विषय को नये ढंग से देखने-परखने की चेष्टायें भी हैं।³

कुबेरनाथ राय का ललित निबंधों में विशिष्ट स्थान स्वीकार किया जाता है। उन्होंने आधुनिक युगबोध के साथ-साथ प्राचीन परम्पराओं को भी समन्वित करने का प्रयास किया है। इसी कारण इनके निबंधों में गतिशीलता, प्रभावात्मकता, निजीवन, चित्रात्मकता, स्वाभाविकता, स्वच्छन्दता तथा रचनात्मकता दृष्टिगोचर होती है।

राय के ललित निबंधों में बुद्धि और भावों का अनुपम सामन्जस्य देखा जा सकता है। इनके निबंधों को बुद्धि और भाव से अनुप्रेरित माना गया है। बौद्धिकता की प्रधानता के कारण ये निबंध कठिन बन गए हैं। लेखिका अर्चना त्रिपाठी का इस संदर्भ में कथन द्रष्टव्य है- 'गन्धमादन' में लेखक की अभिव्यक्ति ने प्रिया नीलकण्ठी' और 'रस-आखेटक' से आगे बढ़कर और अधिक गहराई एवं पूर्णता प्राप्त की है। यद्यपि भावों का आवेग पूरी तरह प्रवाहमान है, परन्तु चिन्तन के स्तर पर आकर वह यदा-कदा विचारों की ओट में हो जाता है। कुल मिलाकर ये निबंध स्वच्छन्द प्रकृति के होते हुए भी बुद्धि की भूमि पर बँधे-बँधे से लगते हैं। यद्यपि ये निबंध कुछ बौद्धिक

हैं, परन्तु 'कामधेनु' के अतिगूढ़ चिन्तन के तनाव से मुक्त हैं।⁴

ललित निबंधों में लेखक का व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। इसी कारण इन निबंधों में निजता को प्रश्रय दिया जाता है जिसमें लेखक का जीवन नहीं बल्कि उस का व्यक्तित्व मुखरित होता है। वैयक्तिकता ललित निबंधों की एक मुख्य विशेषता है। राय 'मनियारा साँप' नामक निबंध में अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करते हुए लिखते हैं- "मेरा मन बचपन से ही यायावर है। यह अतीत के 'कजरीवन' में प्रायः भटका करता है। वैष्णव संस्कृति और भाव-साधना के प्रति आकर्षण तो मुझे आनुवंशिक रूप में मिला है।"⁵

राय ने अपने ललित निबंधों में लोक संस्कृति और लोकमानस की चित्रात्मक शैली में अभिव्यक्ति भी की है। श्री राय ने परम्परागत जातीय संस्कारों, लोकमानस, लोकप्रथाओं से सम्बद्ध आचार-विचारों, रीति-रिवाजों, लोकोक्तियों, मुहावरों, लोकगीतों, देवी-देवताओं इत्यादि का उद्घाटन अपने अनेक निबंधों में किया है। श्री राय स्वयं स्वीकार करते हुए कहते हैं, "मेरे ललित निबंधों का कथ्यगत उपजीव्य भारतीय रस परम्परा और देशी लोक-संस्कृति ही रहे हैं तथा मैं लोकायत अर्थात् 'लोक ऐतिह्य' में स्थापित और स्वीकृत को भी उतना ही प्रामाणिक मानता हूँ।"⁶

श्री राय के निबंध गहन अनुभूति के भण्डार हैं वे भावुक एवं सहृदय निबन्धकार हैं जिस कारण प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण विशुद्ध भावात्मक हैं ललित निबंधकार का प्रकृति के साथ संबंध होना स्वाभाविक ही है क्योंकि प्रकृति उन्हें प्रेरणा देती है। श्री राय ने प्रकृति के कोमल, रौद्र इत्यादि रूपों का चित्रण अत्यन्त कुशलता से किया है। उनका प्रकृति चित्रण कहीं ग्राम्य संस्कृति से जुड़ा है तो कहीं काव्य की सौन्दर्यात्मकता से। श्री राय की प्रकृति चित्रण में निहित भावुकता, वैचारिकता तथा आत्मपरकता ही उनके निबंधों को प्रौढ़ता तथा प्रांजलता प्रदान करती है। राय का ललित्य विधान उनके प्रकृति-चित्रण में ही निहित माना जाता है। लेखक वसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए प्रकृति के सौन्दर्य का बखान इन शब्दों में करते हैं, "क्षितिज तक फैले हुए सरसों के पीले खेतों में खड़ा होने पर ऐसा लगता है कि चटक पीली रोशनी के समुद्र में मैं खड़ा हूँ। आत्मा फैलने लगती है और इसके मुक्त विचार के कारण छाती अपने आप चौड़ी होने लगती है। फूली सरसों का पीत सौन्दर्य आत्मा में अतीव उल्लास भर देता है।"⁷

प्रकृति के रौद्र रूप का चित्रण लेखक इन शब्दों में करते हुए कहते हैं, "जेठ, बैसाख के महीने में आठ बजे सुबह

से शाम छह बजे तक लू बहती है। आग का दरिया आसमान से उतरकर धरती पर चलानवा की तरह बहने लगता है। वातावरण का संगीत उदास और धू-धू हो उठता है और कभी-कभी यह हू-हू कर लंबी रेखा में खींचा हुआ दूर तक चला जाता है।⁷⁸

राय के निबंधों में उद्धरण की बहुलता भी मिलती है जिस से उनके बहुज्ञ व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त होता है। श्री राय का समग्र ललित निबंध साहित्य बहुमुखी प्रतिभा ज्ञान की विद्वता का परिचायक रहा है। श्री राय ने वेद-उपनिषद् रामायण, महाभारत, श्रीमद् भागवतगीता, गीतगोविन्द, मेघदूत, कुमारसम्भव एवं पश्चिम के शैले, कीट्स, येट्स, कामू, सार्त्र, फ्रायड जैसे विद्वानों के विचारों का उपयोग अपने निबंधों में किया है जिससे उनके बहुत व्यक्तित्व एवं ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। इनकी बहुज्ञता का परिचय 'गंगा-यमुना-सरस्वती' निबंध में देखा जा सकता है, "गांगेय संस्कृति ही भारतीय संस्कृति का केन्द्रीय रूप है और इस संस्कृति का निमित्त कारण है, आर्य और उपादान कारण है। भारतीय आर्य वस्तुतः 'नव्य आर्य' है जिसकी संरचना इतिहास-विधाता ने चार तत्वों- आर्य-द्रविड़-निषाद-किरात से की है और जिसे हम आज भारतीय संस्कृति कहते हैं वह आर्य और आर्यतर दोनों की संयुक्त निधि है।"⁷⁹

राय ने अपने निबंधों में समसामयिक समस्याओं को चित्रित करते हुए आधुनिक जीवन-मूल्यों पर व्यंग्य प्रहार भी किए हैं। व्यंग्यात्मक शैली द्वारा इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को पैना, रोचक और आकर्षक बनाया है यथा- "मुझे पता था कि इनमें (प्रोफेसरों में) पंचानवे प्रतिशत ऐसे ही हैं कि इनकी सारी बादशाहत विद्यार्थी जीवन में लिखे गये नोटों पर आश्रित हैं और ये अंग्रेजी माध्यम का इसलिए समर्थन करते हैं कि मातृभाषा माध्यम प्रतिष्ठित होने पर एक तो उन पुराने नोटों को फिर से लिखना पड़ेगा और दूसरे यह कि लड़के कक्षा में प्रश्न करने में भी समर्थ हो जायेंगे एवं यह एक नया झंझट सिर पर आ पड़ेगा।"⁸⁰

व्यक्तिव्यंजक निबंधों को ललित निबंधों के समान माना जा सकता है। राय ने सर्वप्रथम पत्र विधा के माध्यम से ललित निबंध लिखने का प्रयास किया है। वह स्वयं अपने पत्र विधा में लिखे निबंधों को ललित निबंधों की संज्ञा देते हुए कहते हैं, "मणि, तू शायद यह सब पढ़ कर सोचेगी कि 'भैया' जब भी चिट्ठी लिखने बैठते हैं, तो ललित निबंध लिखने लगते हैं पर क्या करूँ, बात तो तेरी 'सिनथेटिक' वस्त्रों की वकालत से उठी थी लेकिन बात का ताल कुछ ऐसा

बैठा कि लालित्य तत्व की ओर चला गया।"⁸¹

श्री राय के निबंधों में कोमलकान्त पदावली दृष्टिगोचर होती हैं संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली के प्रयोग ने भाषा को दुरुह अवश्य बनाया है लेकिन विभिन्न भाषाओं के शब्दों के प्रयोग से भाषा को कुछ हद तक सहजता भी प्रदान की गयी हैं मुहावरों एवं कहावतों के प्रयोग से भाषा में रोचकता का संचार करने का प्रयत्न किया गया है। मिट्टी पलीद होना, धोती खोलकर नाचना, मन मुट्टी में करना, सरेआम नीलाम में बिकना, तुक्का मारना, चाँदी के जूते से पीटना इत्यादि श्री राय द्वारा प्रयुक्त किए गए मुहावरें हैं।

इनकी लयात्मक भाषा और कलात्मक शैली उद्धरण-प्रसंग गर्भित तथा काव्यात्मक बिम्बों, प्रतीकों, उपमानों से सुसज्जित हैं यह सब होते हुए भी श्री राय के निबंधों में द्विवेदी जी तथा मिश्र जी की भाँति सहजता और स्वाभाविकता नहीं है।⁸²

अतः यह कहा जा सकता है कि श्री राय भारतीय संस्कृति और लोकजीवन के सच्चे व समर्थ व्याख्याता हैं। इन्होंने ललित निबंध को मुक्त विधा मानते हुए हिन्दी साहित्य को अनेक रोचक व सरस ललित निबंध प्रदान किए हैं परन्तु श्री राय के प्रारम्भिक निबंधों में जो रोचकता एवं स्वाभाविकता है, वह बाद के निबंधों में नहीं दिखायी पड़ती क्योंकि रचनात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता व पाण्डित्य की छाप अधिक दृष्टिगोचर होती है। अंग्रेजी के विद्वान होने के कारण वे नये-नये पाश्चात्य विचारों को अपने निबंधों के माध्यम से प्रकट करते हैं। उनके आत्मकथा शैली में लिखे निबंध अंग्रेजी के 'मोनोलॉग' प्रणाली पर ही निर्मित हुए हैं परन्तु अति-बौद्धिकता ने जिस तरह हिन्दी की नयी कविता को जटिल बना दिया था, उसी तरह रस और लालित्य के आग्रही पाठकों के लिए भी ये निबंध नीरस और दुर्बोध ही प्रतीत होते हैं। इन सब के बावजूद भी श्री राय को हिन्दी साहित्य जगत् का श्रेष्ठ ललित निबंधकार होने का सम्मान प्राप्त है और इसी रूप में वे हिन्दी साहित्य में इस सम्मान के भागी सदैव रहेंगे।

संदर्भ-

1. डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, हिन्दी के प्रतिनिधि निबंधकार, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर, प्र.सं. 1976, पृ. 393
2. डॉ. सुरेश माहेश्वरी, ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय, दिल्ली, भावना प्रकाशन, प्र.सं. 1999, पृ. 31

शेष पृ. 97 पर.....

सामाजिक चेतना : श्रीरामकृष्ण परमहंस के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. शालिगराम अहिरवार

भारत में हिन्दू धर्म की आंतरिक एकता एवं सर्वधर्म समन्वय के सिद्धांत द्वारा समाज के सभी वर्गों के मनुष्यों को यथार्थ धर्म के मार्ग का दिग्दर्शन कराने के लिए श्रीरामकृष्ण परमहंस का प्रादुर्भाव भारतीय इतिहास की एक महान् घटना थी। स्वामी सिद्धेश्वरानंद का मत है कि “श्रीरामकृष्ण ने मनुष्य के उत्तरदायित्वों के प्रति ध्यान दिलाकर वास्तविक मानवता का समाज में एक महान् आदर्श स्थापित किया है। इस आदर्श से उन्होंने मानवता को पवित्र भावभूमि पर आरूढ़ किया है।”¹ श्रीरामकृष्ण ने अपनी साधना शक्ति के द्वारा समस्त मानवता की आजीवन सेवा की थी। श्रीरामकृष्ण ने समय की आवश्यकता की पूर्ति की थी। परम्परावादियों ने उनमें एक सर्वोत्तम संत को पाया, जिनमें हिन्दुओं के प्राचीन धर्म में एक प्रबल जागरण लाने का सामर्थ्य था। श्रीरामकृष्ण ने सभी धर्मों की कठोर साधनायें कर परम सत्य को प्राप्त किया था। उसके बाद ही उन्होंने समाज में व्याप्त सभी धर्मों के लोगों में व्याप्त, तरह-तरह के आडम्बर को समाप्त कर, धर्म का महत्त्व समझाया था। परमहंस से प्रभावित होकर प्रो. मैक्समूलर ने लिखा है- “ईश्वर की उपस्थिति का यह सतत् बोध वास्तव में ऐसी सामान्य भूमि है, जिस पर अनतिदूर भविष्य में हम भावी विशाल मंदिर के निर्माण की आशा कर सकते हैं। जिसमें हिन्दू और गैर-हिन्दू एक ही परमेश्वर की उपासना हेतु अपने हृदय और हाथों को जोड़कर एक होंगे।”² इस कथन से स्पष्ट होता है कि श्रीरामकृष्ण ने सभी धर्मों के लोगों को धर्म का पाठ पढ़ा कर भारतीय समाज में धार्मिक एकता को स्थापित किया था।

परतंत्र भारत में जिस समय लोग अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति उदासीन हो रहे थे, उस समय श्रीरामकृष्ण ने भारतीय समाज के सभी सम्प्रदायों के लोगों के आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों पर पुनः बल दिया।³ भारतीय समाज में व्याप्त धार्मिक कट्टरता, वर्ग-भेद, जाति-प्रथा,

स्त्री-शिक्षा आदि को रोकने के लिए कई आन्दोलन चल रहे थे, किन्तु किसी को भी पूर्ण सफलता नहीं मिली। श्रीरामकृष्ण ने इन सभी बुराईयों का अपने उपदेशों के माध्यम से घोर विरोध किया। उन्हें इस कार्य में सफलता भी मिली। व्यक्ति समाज का वह महत्त्वपूर्ण अंग है जो समाज की आधार शिला रखता है तथा समाज का निर्माण करता है। व्यक्ति के आदर्श जिस प्रकार के रहेंगे, वैसे ही समाज का निर्माण होगा। एक आदर्श व्यक्ति ही एक आदर्श समाज का निर्माण कर सकता है। उन्होंने इस सामाजिक ढाँचे को स्वस्थ एवं परिपुष्ट रखने के लिए व्यक्ति रूपी आधार को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया। श्रीरामकृष्ण ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा समाज में व्याप्त असमानताओं को समाप्त कर समानता लाने का गुणतर कार्य किया। उन्होंने व्यक्ति की आध्यात्मिक जिम्मेदारी पर भी बल दिया। पुरातन काल से ही भारत का आदर्श परम ज्ञान की प्राप्ति रहा है। भारत के अनेक महापुरुषों ने इस आदर्श को समझा और उसे समाज में स्थापित किया तथा भारत में हिन्दुत्व के नवीन आदर्श समाज की स्थापना को बढ़ावा दिया। ऐसा माना जाता है कि जीवन-आदर्श विस्मृत होने पर संस्कृति के महान् दूत या ईश्वरीय दूत संसार में आकर इस आदर्शवादी समाज को पुनः संजीवित करते हैं। उपनिषदों के गहन सत्यों को अपने बहुमुखी आध्यात्मिक जीवन में प्रत्यक्ष कर निःसन्दिग्ध रूप से श्रीरामकृष्ण परमहंस ने भारतीय समाज में अभिनव जागरण का संदेश प्रसारित किया।

श्रीरामकृष्ण ने भारतीय समाज के कुण्ठित हिन्दुओं के हृदय में अद्भुत उदारशक्ति का अन्वेषण कर, स्वानुभाव द्वारा विश्व के साम्प्रदायिक जातिवादी विचारों में उदारता तथा प्रेम का उन्मेष किया था। जब भारतीय समाज में हिन्दू धर्म की स्थिति बहुत दयनीय थी, हिन्दू लोग अपना धर्म त्याग कर मुस्लिम धर्म को अपना रहे थे। तब श्रीरामकृष्ण हिन्दू धर्म की

अखण्ड एकता और सर्व-ग्रहणशीलता के सत्य को प्रमाणित करने के लिये समाज में अवतरित हुये थे। उन्होंने समाज में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'⁴ इस प्राचीन सत्य को अपने आध्यात्मिक अनुभवों द्वारा फिर से एक बार संसार के सामने पुनः स्थापित किया। भारत के कुछ सम्प्रदाय (ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, प्रार्थना-समाज, थियोसॉफिकल आदि) उस समय अपने मत को अन्य मतों से श्रेष्ठ बतलाने में लगे हुए थे। जब विदेशी हिन्दू धर्म के तत्त्वों एवं अभ्यासों को बर्बरतापूर्ण एवं अजातीय कहकर निन्दित कर रहे थे, तब श्रीरामकृष्ण ने उपदेशों के माध्यम से हिन्दुओं को समझाया था, कि ये सभी धर्म एक लक्ष्य (ईश्वर) तक पहुँचने के अलग-अलग मार्ग हैं, सभी धर्म एक हैं। अर्थात् संसार में जितने भी धर्म हैं इनमें से किसी एक धर्म की साधना द्वारा व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। सभी धर्म समान हैं। कोई छोटा या बड़ा नहीं है आदि की शिक्षा से भारतीय समाज के व्यक्तियों में धर्म के प्रति नवीन चेतना जागृत की। जिससे समाज में नैतिकता का विकास हुआ। उन्होंने समाज के लोगों को यह भी बतलाया कि यदि इस विविधतायुक्त समाज में एकता हो सकती है, तो अध्यात्म के क्षेत्र में इसे क्यों अस्वीकार किया जायेगा, जो हमारे अद्भुत धर्म का क्षेत्र है। धर्मों में भी समानता होनी चाहिये।

श्रीरामकृष्ण के आगमन के पहले भारतीय समाज में जिस वैज्ञानिक युग का सूत्रपात हो चुका था, उसका सामना करना अथवा उसको चुनौती देना साधारण व्यक्ति के लिये पूर्णतः असंभव था। नवीन भारत के इस संधि-क्षण में एक ऐतिहासिक शक्ति-केन्द्र के रूप में श्रीरामकृष्ण समाज में आये थे। सनातन-पंथियों के समान वे न तो इस युग के विरोध में खड़े हुए और न प्रगतिवादियों के समान उस धारा प्रवाह में ही वे बहे। उन्होंने विज्ञान को चुनौती देते हुए भारतीय समाज के लोगों को उससे लड़ने के लिए तैयार किया। उन्होंने विज्ञान और वैज्ञानिक युग को स्वीकार किया। श्रीरामकृष्ण ने विज्ञान की मुख्य विधि, निरीक्षण और प्रयोग को समझा और उनका पालन किया। उन्होंने समाज में वैज्ञानिक प्रभाव के होते हुए भी भारतीय समाज के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की केवल रक्षा ही नहीं की बल्कि इन मूल्यों को समाज में पुनर्प्रतिष्ठित किया।

श्रीरामकृष्ण का दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में पुजारी के पद को ग्रहण करना, उनकी एक महान् सामाजिक चेतना का ही प्रतीक था, क्योंकि उस समय शूद्र जाति के मंदिर में ब्राह्मण का पूजा-पाठ करना एवं प्रसाद ग्रहण करना, समाज

की जाति-प्रथा के अनुसार निम्न कर्म समझा जाता था। इस तरह की परिस्थितियाँ होते हुए भी श्रीरामकृष्ण ने रानी रासमणी जोकि शूद्र जाति की थीं, के द्वारा बनवाए गए काली मंदिर में पुजारी के पद को ग्रहण कर, समाज में व्याप्त जाति-प्रथा का विरोध करते हुए सभी वर्गों के लोगों को समानता का संदेश दिया। पुजारी पद ग्रहण करने के बाद कठोर साधनारत होकर उन्होंने अपने क्रांतिकारी विचारों के माध्यम से सामाजिक समानता का परिचय दिया। श्रीरामकृष्ण का यह साधना स्थल ऐसा था, जहाँ समाज के प्रत्येक धर्म एवं प्रत्येक वर्ग के लोग एकत्रित होकर उनके सान्निध्य से लाभान्वित होते थे। सभी वर्गों के लोगों के लिए उनका जीवन एवं उपदेश समाज की आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक उन्नति के लिए परम आवश्यक हो गया था, जन-साधारण से लेकर पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित एवं आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से सम्पन्न लोगों के अनेक प्रकार के संदेहों का निराकरण श्रीरामकृष्ण, इस प्रकार कर देते थे, कि कोई भी श्रोता ऐसा नहीं रह जाता था, जिसका सन्देह पूर्णरूप से समाप्त न हो जाये।

श्रीरामकृष्ण ने हिन्दू धर्म के निहितार्थ को प्रकट किया है। भारतीय समाज में युगानुकूल धर्म की स्थापना एवं एक आदर्श समाज का निर्माण उनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य था। अवतारी पुरुषों का व्यवहार, क्रिया-कलाप, समाज के सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होते हुए भी हमें समझ में अवश्य आते हैं, परन्तु कुछ लोग उन्हें असामान्य कहते हैं और उन्हें समाज में मनोरोगी की संज्ञा दी जाती है। वे लोग उनकी धार्मिक अनुभूतियों को मतिभ्रम, उन्माद आदि समझते हैं। परमहंस के बारे में भी लोग ऐसा समझते थे। श्रीरामकृष्ण के जीवन से प्रसन्नता और आनंद हमेशा प्रकट होता रहता था। इसी गुण के कारण सभी सम्प्रदायों तथा सभी धर्मों के अशान्त और व्यग्र सामान्य लोग ऐसे महापुरुष के निकट जाने के लिए सदा आकर्षित होते थे।

श्रीरामकृष्ण के पास अशान्तपूर्ण और व्यग्रता की स्थिति में स्वामी विवेकानंद पहुँचे, गिरीशचंद्र घोष, केशवचंद्र अथवा अन्य समाज के अनेक महान विद्वान पहुँचे, जिनको उन्होंने जीवन में शान्ति और पूर्णता की प्राप्ति कराई थी। श्रीरामकृष्ण के संवेगों में समाज के सभी वर्गों के प्रति सामंजस्य और एकता की भावना सदा भरी रहती थी। इसलिए श्रीरामकृष्ण सामान्य व्यक्ति को भी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा ईश्वर का दर्शनाभास करवा देते थे। उन्होंने जीवन भर बिना किसी भेद-भाव के चाहे वह निर्धन हो या धनी सभी की समान

रूप से अपने नैतिक उपदेशों के द्वारा सेवा की। अतः श्रीरामकृष्ण के इन्हीं व्यावहारिक गुणों में हमें सामाजिक चेतना का रूप दिखाई देता है।

श्रीरामकृष्ण के जीवन के बारे में उनके परम शिष्य स्वामी विवेकानंद ने लिखा है- “एक ऐसे व्यक्ति के उत्पन्न होने का समय आ गया था, जो शंकराचार्य के समान महान् बुद्धि एवं चैतन्य देव की तरह अद्भुत विशाल हृदय रखता हो, जो समस्त जीवों में उसी एक ईश्वरीय आत्मा को क्रियाशील देखता हो, जो समस्त लोगों में वही ईश्वर देखता हो, जिसका हृदय दीन-दुखियों के लिए व्याकुल हो जाये, भारत या भारत से बाहर जो नीच, दुर्बल एवं पददलित लोग हैं, उनके प्रति कष्ट का अनुभव करने लगे। जिसकी महान् बुद्धि भारत में एवं भारत से अन्यत्र देशों में विभिन्न संघर्षयुक्त सम्प्रदायों में समन्वय के उच्च विचारों को धारण करती हो तथा सार्वभौम धर्म के अद्भुत समन्वय को मानसिक एवं हार्दिक रूप से वास्तविकता में परिणित करती हैं।”⁵ अतः स्वामी विवेकानंद जी ने अपने इन कथनों के माध्यम से श्रीरामकृष्ण के जीवन और शिक्षण के महत्त्व तथा समाज संबंधी चेतना को उजागर करने का प्रयास किया है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि श्रीरामकृष्ण के व्यवहारिक जीवन में हमें विश्व चेतना के गुण स्पष्ट दिखाई देते हैं। उन्होंने केवल भारतीय मानव जाति के कल्याण के लिए ही नहीं प्रयास किया, बल्कि विश्व में सभी मानवों की भलाई के लिए कार्य किया। श्रीरामकृष्ण की इस चेतना में वैयक्तिक, धार्मिक, सामाजिक चेतना आदि सभी चेतनाओं का स्वरूप एक साथ देखने को मिलता है।

संदर्भ-

1. वेदान्त केशरी, नवम्बर-1926, पृ. 3-4
2. विवेक ज्योति (पत्रिका) 43-अंक, मार्च-2005 पृ. 105
3. वेदान्त केशरी, नवम्बर 1926, पृ. 314
4. ऋग्वेद 1.164.46.
5. विवेकानंद साहित्य, भाग-पंचम, पृ. 161

दर्शन-शास्त्र विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

पृ. 94 का शेष भाग

3. डॉ. गणेश खरे, हिन्दी के प्रमुख निबंधकार रचना और शिल्प, कानपुर, अभिलाषा प्रकाशन, सं. 1979, पृ. 147
4. अर्चना त्रिपाठी, ललित निबन्ध के गन्धमादन कुबेरनाथ राय, दिल्ली, नीरज बुक सेन्टर, प्र.सं. 2011, पृ. 27
5. कुबेरनाथ राय, प्रिया नीलकण्ठी (मनियारा साँप), नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, चतुर्थ सं. 2006, पृ. 32
6. कुबेरनाथ राय, मराल, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, तृतीय सं, 2008, पृ. 162
7. कुबेरनाथ राय, प्रिया नीलकण्ठी (मधु-माधव), नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, चतुर्थ सं. 2006, पृ. 13
8. कुबेरनाथ राय, प्रिया नीलकण्ठी (आखी का पेड़), नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, चतुर्थ सं. 2006, पृ. 44
9. कुबेरनाथ राय, मराल, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, तृतीय सं, 2008, पृ. 159
10. कुबेरनाथ राय, रस आखेटक, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा सं, 2006, पृ. 38
11. कुबेरनाथ राय, पत्र मणिपुतुल के नाम, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्र.सं, 1980, पृ. 12
12. विभुराम मिश्र एवं ज्योतीश्वर मिश्र, वाराणसी, प्रतिनिधि हिन्दी निबंधकार, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, प्र.सं. 2011, पृ. 214

वी.पी.ओ. इकोलाहा, खन्ना, 141401, लुधियाना, पंजाब

प्रवास के दर्द का प्रामाणिक दस्तावेज – बसरा की गलियाँ

डॉ. कामिनी साहिर

बसरा की गलियाँ पंजाब के उदीयमान उपन्यासकार अजय शर्मा द्वारा लिखित है। विवेच्य उपन्यास में नायक लोकल से ग्लोबल की यात्रा करता विभिन्न स्थितियों से गुजरता प्रवास के दर्द को रेखांकित करता है। इसके साथ उपन्यास विदेशी धरती और विदेशी पात्रों के बीच जीने के लिए संघर्ष तथा जीवन में बची उष्मा को तलाशने की जद्दोजहद तथा जीवन जीने की तीव्र आकांक्षा है। उपन्यास में पात्र भूख, अभाव, घृणा, संवेदनशीलता और अमानवीयता से लड़ते हुए भी जीवन में प्रेम प्राप्त करने के लिए भटकते हैं।¹

विवेच्य उपन्यास स्पष्ट करता है कि पंजाबी युवकों का अपनी जन्मभूमि से विच्छेद कर विदेशों में जाकर धन कमाने की बढ़ती लालसा जिस कारण बेगाने देश में जाकर प्रवास भोगना कई बार उन युवकों के लिए कैद जैसी ज़िन्दगी जीने की विवशता मात्र बन जाती है। इतना ही नहीं, फिर वापिस अपने वतन लौटने की छटपटाहट भी उतनी ही बढ़ने लगती है जितनी बाहर जाने की कभी उत्सुकता थी, परन्तु वापिस वतन परतना इतना आसान नहीं होता। इसी जीवन त्रासदी को वाणी देता है- अजय शर्मा का बसरा की गलियाँ उपन्यास। अफसाने का प्रथम भाग एक प्रवासी हिन्दू भारतीय का दूसरे धर्म की लड़की से प्रेम करना और प्रेम की परिणति भोगना है जो उसके भविष्य का काला अध्याय निर्धारित करती है।

प्रस्तुत उपन्यास का नायक पंजाब से विस्थापित होकर ट्रांसलेटर की हैसियत से इराक जा पहुँचता है तथा वहाँ मुस्लिम युवती बुशरा की आँखों का शिकार बनकर, उसके प्रेमपाश में बंध, उससे हमबिस्तर हो जाता है। हमबिस्तर होने का परिणाम भी मिलता है, बुशरा से जबरन निकाह। वो भी इराकी समाज के धार्मिक कानून की संकीर्णता के कारण इस्लाम धर्म अपनाने की कठोर शर्त पर। उसे गौ मांस खाकर तथा सुन्नत जैसी कष्टदायक मुस्लिम रस्म (खतना) को सहने पर विवश होकर यानि अपना संपूर्ण अस्तित्व खो देने को ही नायक बाध्य हो जाता है। एक-एक करके यह रस्में कैसे

उसके अस्तित्व का समापन करती है, उसका वर्णन निम्नलिखित है- मैंने अपनी हार स्वीकार कर ली। मुक्ति का एक मार्ग था आत्महत्या। लेकिन मैं उसके बिल्कुल खिलाफ था..... सारी बातें सोचकर मैंने हथियार डाल दिए थे और गौ माँस हलक में उतार लिया था।² बेगाने देश में मिली यह यातना केवल नाम बदलने और गौ माँस खाने तक सीमित नहीं होती, अपितु उससे भी गहरा आघात आकाश को देती है। बुशरा की माँ ने कहा-केवल नाम बदलने से कोई आदमी हमारी बिरादरी में शरीक नहीं हो जाता। इसके लिए सबसे जरूरी है तुम्हारा खतना।³ दरअसल, आकाश का खतना करवाने के लिए बुशरा की माँ पर दबाव डाला जाता है- जिस काजी ने निकाह करवाया उसका अटल फैसला था कि खतना जरूर होगा और वह फैसला काजी ने सरेआम लोगों के बीच लेते हुए कहा था कि एक काफिर को अपनी बिरादरी में शामिल करने के लिए खतना बहुत जरूरी है।⁴

उसका नाम आकाश से सलीम रखकर, गौ माँस-भक्षण करवाकर, सुन्नत करके उसे पूरा मुसलमान बनाया जाता है। अपने देश, परिवार, रिश्तेदारों और दोस्तों से कोसों दूर स्वयं को अकेला पाकर आकाश/सलीम कहता है- बेगाने देश का एहसास आज और भी गहरा हो गया था।⁵ आकाश का ज़बरदस्ती खतना यहाँ इराकी समाज की धार्मिक संकीर्णता को दर्शाता है, वहीं प्रवास की स्थिति हमें क्या कुछ करने को मजबूर कर सकती है इस ओर भी संकेत मिलता है। अपना अस्तित्व खो कर आँखों में आँसुओं का सैलाब लिए उसे रहा था कि यह रात मेरे लिए कयामत की रात से कम नहीं.... आज एक दुनिया ही लुट गई थी। शादी से पहले मेरा नाम आकाश था परंतु शादी के तुरंत बाद बदल कर सलीम रख दिया गया। मेरे सामने ही मेरा पासपोर्ट फाइडर अग्नि की भेंट चढ़ा दिया गया था। मैं आज के दिन को कैसे भूल सकता हूँ? आज ही मैं एक हिंदू से मुसलमान बना गया था। यही नहीं, मेरे अपने मुझसे सदा के लिए दूर हो गए थे। शायद

जीते-जी उनको कभी न मिल पाऊँ..... ।⁶ प्रवासी नायक के जीवन की त्रासदी यही विराम नहीं लेती, बल्कि इराक-अमेरिका के युद्ध दौरान फौज में जाकर फौजी बनकर फिर परिस्थितियों के चक्र में फंसा आकाश/सलीम अमेरिका जा पहुँचता है और अमेरिकी फौज द्वारा फिर से उसका धर्म परिवर्तन कर दिया जाता है। उस बार वह स्मिथ से क्रिश्चियन बना दिया जाता है। आकाश से सलीम बना उपन्यास का नायक इराकी फौजी से-अमेरिका का जंगी कैदी भी बन जाता है। इराक वासियों की विवशता हे कि सद्दाम जैसे निरकुंश राष्ट्रपति की युद्ध नीति का संताप समूह जनता को भोगना पड़ता है। युद्ध के विनाश से विदेशों में आए पर्यटक तथा श्रमिकों पर क्या बीतती है वह तो कैम्पों में रहने वाले इस संताप को अच्छी तरह जानते हैं।⁷ नायक उस घड़ी को कोसता है जिसने उसे उसका घर, देश ही नहीं छुड़वाया बल्कि उससे उसका नाम, पहचान, धर्म सब छुड़वा दिया....फिर जो नाम, पहचान, धर्म बसरा में मिला था वह फिर छिन जाता है तथा पुनः विस्थापन। उपन्यास का कथानायक न भारत का हो पाया, न बसरा का, न अमेरिका का.... ।⁸ इस सारी स्थितियों से गुजरते हुए एक ओर नायक अपने वतन, अपने परिवार, दोस्तों के साथ बिताए विगत जीवन की स्मृतियों में लीन मिलता है तो दूसरी ओर उसके माध्यम से भूमंडलीकरण के दौर से गुजरते आज मानव जीवन जिन जटिलताओं से दो-चार हो रहा है, उसकी महाकाव्यात्मक अभिव्यक्ति है।

लेखक ने नायक के द्वारा एजेंटों के हाथों लूटे जाने की पोल भी खोली है। अपनी पहचान खोकर अतीत में खोया नायक सोचता है कि उसने और उसके दोस्त नरेश ने इराक आने के लिए एजेंट के पास कितने चक्कर लगाए थे। एजेंट के अनुसार नायक को इराक में एक अस्पताल में ट्रांसलेटर का काम करना था और नरेश के बारे एजेंट का कहना था कि वह इलेक्ट्रिकल विभाग में कार्य करेगा तथा दोनों की सैलरी एक सौ बीस दीनार-एक सौ बीस दीनार माहवार होगी। इस सब काम के लिए एजेंट ने मोटी रकम भी वसूली थी और एजेंट की रकम की इंतजाम नायक की माँ की चूड़ियाँ बनिये के पास दुगने सूद पर गिरवी रख कर की गई थी। इतना कुछ करके जैसे-तैसे वे दोनों इराक पहुँचे थे। परन्तु यहाँ आकर नरेश के साथ जो बीता, वे नायक के शब्दों में- मैंने तो अस्पताल में ड्यूटी ज्वाइन कर ली थी। मगर हमारे बैच में जितने भी हिंद-पाक के इंजीनियर थे, उन्हें आते ही एयरपोर्ट के टर्मिनल पर शीशे साफ करने के लिए लगा दिया गया.. .. उनके हाथ में बड़े-बड़े कागज़ थमा दिए गए। गोरों ने कहा,

‘हल्का-सा पानी का छीटा देकर बाद में सूखे कागज़ उस पर रखने हैं ताकि शीशे साफ हो सकें। उसने यह भी कहा था कि सब अपना-अपना काम करेंगे। अगर आपने बातें की तो आपको पैक कर दिया जाएगा।⁹ इसी कारण नरेश एक दिन में विदेश में उदास हो जाता है यहाँ आने की सारी खुशी मायूसी में बदल जाती है। चूँकि उसे कदापि भी स्वीकार नहीं कि इतनी पढ़ाई के बाद विदेशों में जाकर शीशे साफ करना, यही होता है प्रवास का दर्द। ऐसी स्थिति में जब अपने पहले ही दूर हो तब प्रवास की चुभन और भी गहरी हो जाती है। नरेश को समझाने के लिए एक रिटायर फौजी जो कैम्प में ट्राला चलाने का काम करता है, बोला, अरे मेरे भाई, यह बात तो तुम्हें यहाँ आने से पहले सोचनी चाहिए थी। अब आ ही गए हो तो चिंता किस बात की? जब पाँव में घुँघरू ही बाँध लिए तो नाचने में गुरेज क्यों?¹⁰ लेकिन नरेश नहीं माना और वापिस भारत लौट आया। यहाँ लेखक ने स्पष्ट किया है कि एजेंटों के दिखाए झूठे सपनों को सच मानकर पुवा दीनार कमाने के लिए विदेश पहुँच तो जाते हैं। लेकिन बेगाने देश में आकर जब पढ़ाई की योग्यता अनुरूप नौकरी नहीं मिलती, तब कुछ नरेश जैसे युवक समझौता न करके वापिस लौटने में ही अपनी भलाई समझते हैं। जबकि वह जानते हैं कि विदेश आने के लिए उन्होंने धन का कितना व्यय किया था और संघर्ष भी। लेकिन आकाश जैसे कुछ ऐसे युवक भी होते हैं जो स्वयं को परिस्थितियों के हवाले छोड़ कर, वहीं रहते हैं और आजीवन भर की दासता मोल ले लेते हैं तथा फिर धर्म परिवर्तन की त्रासदी से गुजरते हुए, अपने वापिस वतन आने के सारे मार्ग खुद बंद कर लेते हैं। नायक अपनी स्थिति को अपने बाँस को बताता कहता है- कैसे भूलूँ सर! क्या यह दुख भुलने वाला है? आप जानते हैं मैं इस रेगिस्तान में उस ऊंट की तरह हो गया हूँ, जिसे सारी ज़िन्दगी यही का भार ढोना है।¹¹

विवेच्य उपन्यास में प्रवासी जीवन जीने वालों द्वारा संपूर्ण जीवन प्रवास भोगते हुए, विदेशी धरती पर कमाने के बाद भी खाली के खाली वतन लौटकर फिर नौकरी की चिंता में भटकने की व्यथा प्रति गहन चिंतन भी मिलता है- कई बुजुर्ग लोग तो बताते थे कि उनका तो पूरा जीवन ही विदेशी धरती पर बीता है। कभी इराक, कभी दुबई, कभी बहरीन तो कभी किसी अन्य देश में। इसके बावजूद..... जितने भी वर्ष वे लोग विदेश में रहे, कभी पैसा जोड़ नहीं सके। हिंदुस्तान लौटने पर छोटी-मोटी नौकरी करने को मन नहीं करता। अगर करो तो उससे अपना ही खर्च पूरा नहीं होता तो परिवार को

क्या खिलाना है?¹²

दूसरी ओर, इराक में हर समय जंग के कारण हाहाकार और शेलिंग का मंजर देख हरके प्रवासी का मन अपने वतन लौटने को करता परन्तु ऐसा लगता है कि दीनारों की चमक ने जैसे सबके मन की आवाज़ को दबा दिया हो। उपन्यास में नायक खुद ऐसी स्थिति को बयान करता कहता है- कई बार मन हुआ, मैं वापस लौट जाऊँ..... शुरू-शुरू में मैंने सोचा भी था कि कुछ ही महीनों बाद पैसा पूरा करके वापस चला जाऊँगा। लेकिन कुछ महीनों बाद दीनारों की चमक ने वापस जाने से रोक दिया। वैसे भी कुछ महीनों में इराक-ईरान जंग और शेलिंग के हम आदी हो गए थे.... और दीनार की चमक के नीचे शेलिंग की आवाज़ दब कर रह गई है, जो लोगों को सुनाई तो देती है लेकिन वे सुनना नहीं चाहते।¹³ परन्तु प्रवास की परिस्थितियों को झेलता। अंत में आकाश/सलीम/स्मिथ ज़िन्दगी से थक-हार कर अपनी फौजी साथिन एलाइजा से अपनी टांग पर गोली मरवाकर आखिर अपने वतन लौटता है तो भी वह खुद को अनजान परिस्थितियों में पाता है। दरअसल, एक बार जड़े जब उखड़ जाती है तो वहीं दुबारा पेड़ चाहे किसी तरह फल-फूल भी जाए लेकिन इंसान? क्योंकि दोनों में अंतर तो है ही। वतन आकर बेचैनी से मुक्ति होकर शांति पाने के लिए वह अध्यात्म की शरण में हरिद्वार भी जाता है और वहाँ की ध्वनि में लीन होकर अतीत से छुटकारा पाने का प्रयास करता है। गोपाल शर्मा लिखते हैं- उपन्यासकार का लक्ष्य नायक की भूमिका में इतना मजबूत है कि आदमी जीवन भर लुढ़कता रहता है-विदेशी मुद्रा की अंधी दौड़ से

विमुख स्वदेश की धरती पर कुशल लौटकर आ जाना भी आज के भयावह संसार में गनीमत है।¹⁴

अस्तु, प्रस्तुत उपन्यास कई प्रश्नों, कई जिज्ञासाओं के साथ कई परिस्थितियों प्रति उत्सुकता भी जगाता है। लेखन की लेखनी से उपजा यह उपन्यास केवल प्रवास के दर्द को ही नहीं व्यक्त करता अपितु यह लेखक की भीतरी छटपटाहट को भी वाणी देता है। दीनारों की चमक में प्रवास भोगती युवा पीढ़ी किस कद्र वहाँ कैद में अपना अस्तित्व लुटाकर तथा युद्ध की विनाशक स्थितियों को झेलती जीवन जीने के लिए अभिशप्त होती है, इसकी सशक्त अभिव्यक्ति करता है- बसरा की गलियाँ उपन्यास।

सन्दर्भ-

1. डॉ. अजय शर्मा का कथा-संसार, (सं. हरमहेन्द्र सिंह बेदी, सुधा जितेन्द्र, साहित्य सिलसिला प्रकाशन, 2010, पृ. 226
2. अजय शर्मा, बसरा की गलियाँ, के. के. पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2011, पृ. 10
3. वही, पृ. 11
4. वही, पृ. 119
5. वही, पृ. 12
6. वही, पृ. 6
7. डॉ. अजय शर्मा का कथा-संसार, पृ. 138
8. वही, पृ. 20
9. वही, पृ. 20
10. बसरा की गलियाँ, पृ. 24
11. वही, पृ. 30
12. वही, पृ. 25
13. वही, पृ. 20
14. डॉ. अजय शर्मा का कथा-संसार, पृ. 139

अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, खालसा कॉलेज फॉर वीमेन, लुधियाना

Reaming the part of page no. 116.....

REFERENCES :

1. Desai, Kiran. The Inheritance of Loss. India:Penguin Books Ltd., 2006
2. Egelman, Sarah Rachel. Kiran Desai's 'Inheritance of Loss'. 22 jan 2011. < <http://www.bookreporter.com/reviews/the-inheritance-of-loss>
4. Ghosh, Tapan. K. " Kiran Desai : Life and Works. " the fiction of Kiran Desai: The Focus on the Inheritance of Loss. Ed. Tapan K. Ghosh. New Delhi: Prestige Book, 2009
5. Bilwakesh, Champa. Kiran Desai's " Inheritance of Loss " . 25 September. 2011. <http://www.Sawnet.Org/books-reviews>
6. Mishra Pankaj. " Wounded by the west". Rev. of 'The Inheritance of Loss', by Kiran Desai . The New York Times. Dec. 5, 2008

Asstt. Prof. in English, S.C.D. Govt. College, Ludhiana

Love as guiding principle of life in D.H. Lawrence's Novel

MAMTA

Love can be seen as a guiding principle in all of the novels of Lawrence. Lawrence's love ethic involves the element of love as life morality in its own right. In order to realize the true meaning an efficiency of love, one has to pass through the ordeal of refinement of sensibilities. Lawrence's observations are based on rich experience and rumination. He conceives the problem of the day as being the establishment of a new relation between man and woman. "There are many diversities of relation between woman and man coming under the head of love."¹

D.H. Lawrence's two novels especially 'The Rainbow' and 'Women in Love' deal with the idea of human salvation, which is a wholesome, healthy state of being attainable in this world. This state of salvation and fulfillment becomes possible only through marital and sexual experience. It becomes in the long run the ideal of life and this sort of love becomes the guiding principles of life.

'The Rainbow' affirms that sex is not and can not be the answer to the issues raised by the complexity of modern civilization. "To Lawrence, love that is merely sexual is in the long run valueless."²

In Lawrence's world man are seen incomplete without women though women are also wanting something like guiding principle of life e.g. love. Lawrence "Is trying to show how two people bound together and ultimately to find in it some sort of salvation."³

'The Rainbow' is crowded with various figures from three different generations. In the first generation, there is conventional, cultural

disparity in the case of Tom and Lydia. Their culture, manners and dialect are different but even then there is something that binds them. Tom seeing her for the first time feels : "It was as if a strong light were burning there and he was blind within it unable to know anything, except that this transfiguration burned between him and her, connecting them, like a secret power."⁴

Tom and Lydia attain the perpetual wonder of salvation. Love between the two as far as it goes is undoubtedly a success. It brings fulfillment to their lives, though not complete fulfillment. The flesh is fulfilled but the spirit is not. Tom is proud of the sensual consummation, he had with his wife, "without her, he was nothing... but with her, he would be real... she would bring him completeness and perfection."⁵

Lydia in her own place also finds herself blessed on seeing Tom, she had a queer sensation and "the pain of a new birth in herself strung all her veins to a new form."⁶ Tom appeared newly created, gradually after a new birth. But now and then, Tom feels alienated and isolated. They are set apart during Lydia's pregnancy.

It is quite late that he comes to realize that Lydia is not to be treated as a vessel for sexual outlet, a machine to satisfy him continually and constantly. She is a woman with a self of her own. From now onwards Tom's outlook and thinking begin to widen and it embraces the realization of the fact that the end of marriage is not sheer satisfaction of sexual urge : "She had taken him and given him fulfillment, she still would do so, in her own times and ways. But he must

control himself, measure himself to her. He wanted to give her all his love, all his passion, all his essential energy. But it could not be. He must find other things than her other centres of living." Lydia also feels need of reconciliation. Lydia is also conscious of his antagonism. It is not intimate love, it is love-hate rhythm. Tom also realizes that he should not overrule his wife's foreigners and should not expect her to be what she is not. And this completes her marital bliss.

In the second generation, Will and Anna continue the same quest for fulfilment. Anna when she sees Will for the first time, she felt as "something strange had entered into her world. . . . She was aware of a strange influence entering into her, which she enjoyed."⁸ Besides opposition and resentment from parent's side, they are seen together. But they get real satisfaction after marriage.

Will believes that Anna has a power to create a new world around her with love. Anna through the early years of her marriage resists the willful quality of Will's love. Will wishes to seek a mystic merger with the cathedral and successful relations with Anna at the same time. But he proves a desperate failure.

The result is Will keeps on losing by slow degrees and Anna goes on winning respectively. They are less aware of their separateness. Will and Anna though intensely in love with each other, becomes involved in an obscure battle of Will's which continues year after year. "This relationship is a vivid portrait of the battle that goes on between the two young people playing at love and marriage with very little experience behind them."⁹

Anna herself feels satisfied and complete through child bearing. Then she does not need her husband Will. She dances naked in exultation before the Lord-the creator to ignore Will's presence. But Will finds something in her existence, "he wanted her to come and liberate him into a world."¹⁰

In the next generation, Ursula's first love is Anton Skrebansky, the son of a friend of her grand

mother Lydia. But their love does not reach the stage of higher development. She demands much from Skrebansky and of which he is incapable of giving. He satisfies her time after time in their physical relations, he fails her at the last in the "beyondness of sex" that is the ultimate motive of love and the basic principle of life.¹¹

In 'Women in Love', Lawrence has presented two contradictory situations and set of lovers to present his ideal of love. Besides Ursula and Birkin's movement towards life, "there is also the deathward affair between Gerald Crich and Gudrun Brengwen, which seems to provide symbolic contrast with 'star equilibrium.'¹² Birkin's affair with Hermoine falls as she can never be spontaneous. She felt some insufficiency within her. "And she wanted someone to close up this deficiency, to close is up forever. She craved for Rupert Birkin. When he was there, she felt complete, she was sufficient whole."¹³ Birkin finds Hermoine always trying to overpower and dominate others.

Later on disgusted as Birkin is, he turns towards Ursula for search of fulfilment. "He says to Ursula, what I want is a strange conjunction with you - he said quietly- not meeting and mingling. You are quite right :- but an equilibrium, a pure balance of two single beings :- as the stars balance each other."¹⁴ He like Lawrence himself believes "there is no fulfilment in love itself. Fulfilment, indeed must come through a perfected harmony between the lover and the beloved, but this communion wonderful as it is, by no means itself the fulfilment."¹⁵

Birkin's concept of love is so uncommon and so unexpected that Ursula at first finds it difficult to understand what he actually means by offering love to her Ursula on the other hand stands for the conventional idea of love which means complete surrender of the soul and body to the domination of love and loyalty on the part of the lover and complete obedience on the part of the beloved. But they become physically and

See page no. 112.....

DIASPORIC STRAINS IN JHUMPA LAHIRI'S NOVEL 'NAMESAKE'

MALA KAPOOR

The word 'Diaspora' the term by which, orally or in print, we designate the immigrants, is not really a name at all nor a description, but a psychological island whose objective form is the most unanimous fiat portraying expatriations in post-colonial societies. In this scenario of global migration the concepts of 'homeland' and the 'dual or hybrid identity' form a very intricate framework. So the phenomena of emigration and expatriation are by no means new to the society. Instead their impact in the present times is larger, deeper and dramatic. In Post independence era; there has been a rampant growth in the rate of immigrations. Thereby the cultural and sociological implications of Diaspora have been incorporated into literature to produce a flourishing genre in post modernism i.e Diasporic literature.

Here, at the onset I will begin with the Literal meaning of Diaspora, which means 'to disperse'. Now the dispersal can be voluntary or forcible. The critics like Homi K. Bhabha, Avtar Brah and Stuart Hall are of the view that the floating nature of home and fluid identity has replaced the age-old concepts of fixed 'home' and 'identity' as well. The incessant migrations of the individuals prevent the configuration of tenacious roots. Along that the regular prevalence of the Diaspora and the growing incidents of expatriation, particularly in the post-colonial societies in the second half of the twentieth century, have not only given place to dislocation, but also disconnects the individual from his roots resulting into disintegration,

disbelongingness, distress and finally isolation with the society. Moreover, the hybrid identity of the immigrants and the experience of inhabiting two geographical and cultural spaces involutes tensions in an individual's life and he stands straddled between patterns such as dislocation vs. relocation, domicile vs. diasporic consciousness, dispossession vs. integration, heritage vs. hybridity and exile vs. involvement. The displaced often suffers from an almost-pathological wanderlust.

'Exiles or immigrants or expatriates, are haunted by some sense of loss, some urge to reclaim, to look back, even at the risk of being mutated into pillars of salt' (Rushdie10)

The quest of the members of the Indian diasporas to reclaim their identity in the homeland as expressed in the above epitaph finds endorsement in Amartya Sen's view that Indian identity is important not only for those who live in India but also "for very large Indian Diaspora across the world- estimated 20 million or more in number".

Diaspora now encompasses the experiences of the diasporic imaginary freckled all over the world especially in Great Britain and in the US. Moreover Indian diasporic literature is arresting global attention today. Particularly the issues like alienation, nostalgia, discrimination, identity crisis are captivating the attention of writers and taking unique place in the literature. We can see such issues been chronicled with the interests of Jhumpa Lahiri, Bharati Mukherjee, Salman Rushdie, Agha

Shahid Ali etc. Its theme in the world of literature describes loss of identity and isolation witnessed by the Indian writers who are settled abroad. Writers like

'Salman Rushdie', 'Vikram Seth' and 'Kiran Desai' have given insight into what it means to travel between the West and the East and they still write under Diaspora label. But some writers like 'Bharti Mukherjee' discard their diasporic identity and get assimilated in the foreign land.

I embark on considering the idea of a 'diasporic consciousness' or a diasporic sensibility in the work of Jhumpa Lahri, a Bengali American author. She acquired her Bengali heritage from her mother at a very early age. She moved to South Kingstown, Rhode Island, United States when she was a child. Right from a very young age Jhumpa Lahri felt strong ties for her parent's homeland India as well as United States and England. As might be expected from the rich input of her cultural background, a sense of homelessness and an inability to feel accepted look hold of her as she grew up with ties to all three countries. To her, it is an inheritance of parent's ties to India. She also has two different names - different on her passport and birth certificate. She was born as Nilanjana Sudeshna, but she decided to stick to 'Jhumpa' as it was the easiest of her names to enunciate. As Lahri didn't belong to the first generation immigrants hence no doubt that she did not explicitly face the challenges or loneliness of exile and longing for a lost world. But she was torn apart, between the hyphenated identities of Indian- American. So we see in her works that Lahri uses the language of the oppressor and in her attempt to find and define her own voice within it, expresses her hybrid identity.

Talking about her own dilemma of name Jhumpa Lahri says in her interview with Jeffrey Brown, "It's what my world is, and I've always been aware of my parents came from Calcutta. I have found myself sort of caught between the

worlds of left behind and still clung to, and also the world that surrounded me at school and everywhere else, as soon as I set foot out of the door" (2008).

So this way we can say that her novels become an outlet for her emotions and she largely writes about the human condition of Indian Diaspora in the USA. The Diasporic Indian is the traditional symbol of the Indian way of life, he tries to spread out his roots in several soils and even after far from being homeless, he has several homes, and that is the only means he increasingly desires to feel at home in another nation.

The present paper discusses the term 'Diaspora' with respect to 'Jhumpa Lahiri's' (a Pulitzer Prize winner), novel 'Namesake' (2003) in which she protrudes her consciousness and experience to bring forth the dilemma of name and immigrant's sense of identity and belongingness. Her novel 'Namesake' grabbed instant recognition and fame and later on based on the novel a Hollywood movie came out. The majority of her works are about exile and about the people living far from their homelands and thereby their inability to reconcile American with the Indian society. Her short stories 'Interpreter of maladies' and Novel 'The Namesake' explores the identity crisis both cultural and personal as well as isolation w.r.t their personal identity signified strongly by their names. To her view, cultural isolation causes personal.

We also find the autobiographical elements in her novel. Lahiri's experience of growing up as child of immigrants resembles that of protagonist, Gogol in the novel 'Namesake'. Like Gogol her pet name involuntarily became her good name. She fathoms deep to explain the labyrinths of her characters, to explore psychologically the intricacies of human relationships particularly of a class of characters who live in the west like Gogol but with parents born and raised in India

i.e Ashima and Ashoke Ganguli. At some point in the colonial period, the migration used to be the history of misery, dispossession and trouble. This was actually the third wave of migration from the nineteenth century and was mainly confined to the Industrialized developed economies like USA. In the novel, Gogol's parents belong to this wave of immigration to the United States whereas Gogol is a product of the current success story of the Indian Diasporas in the United States.

In the novel the issues and conflicts are portrayed in a very subtle manner through the central characters Ashima and her son Gogol; the protagonists of the same novel. Lahri's focus is on the 'human predicament' in the alien world in an extensive perspective. The obsession of the immigrants over the oft asked question by Americans: What are they? - Indians or Americans. Had they changed their habits? Or they are just a close knit ethnic group, still far from being assimilated into the general current of life around them.

Jhumpa Lahri describes the struggles and hardships of a Bengali couple Ashoke and Ashima Ganguli who leave Calcutta, India migrate to the United States and settle in Central Square, in Cambridge, Massachusetts to form a life outside of everything they are habituated to. The story of the novel reveals the cultural and generational gaps between parents and the children. Ganguli's son nicknamed, Gogol (becomes his official birth name) was an American born and apparently wants to fit in the company of his fellow New Yorkers. In comparison to Ashima's nostalgia, Gogol was apathetic to Indian culture.

When the novel opens we find Jhumpa's portrayal of a middle class society in Calcutta before Ashima's marriage. In Indian society besides few exceptions, the male is considered the head and thereby runs and rules the family. The Children submit their wishes to give value and respect to their elders. Also Ashoke's family

visit to Ashima's house to see her, Ashoke's father's talking all the time and Ashoke's shyness even to raise his eyes to Ashima shows typical Indian customs. Moreover in India it is expected out of a woman to give priority to home and family and to take care of the children. So apparently such expectations from would be daughter in law are obvious. Thereby it is appropriate for Ashima's mother to boast of her daughter's accomplishments and she says, "She is fond of cooking, and she can knit extremely well".

Even after marriage Ashima does not take her husband's name as according to Hindu belief it may lessen the life of a husband. So it is usual for Ashoke and Ashima, later in the novel, to avert their gaze when Maxine, their son's girlfriend runs her hand through Gogol's hair.

The novel explores the psychic condition of the first generation immigrants Ashima and Ashoke and their incessant rift of changing identity with second generation immigrants: Gogol and Sonia. What we find, a very turbulent situation in the novel, which arises by the dual or hybrid identity of second generation immigrants who find it almost impossible to hold and adhere to the identity of their parental land. An immigrant 'falls between two stools' and perceives actions, events and experience in a relative light. What I attempt to formulate in this paper are the Diaspora sensibilities of an Indian family who are unwilling to let go of their traditional ways and same thing they endeavour to implant in their son's psyche. Lahri has successfully portrayed the diasporic consciousness of an immigrant family from India who came to US and even after could not alienate themselves physically and culturally from their native place.

Regarding the diasporic experience, Adesh Pal says, "The first generation has strong attachment with the country of their origin. From the second generation onwards a tie with the homeland gradually gets replaced by those with the adopted country. Food, clothes,

language, religion, music, dance, myths, legends, customs of individual community etc. become the markers of identity. These are retained, discarded or adopted differently at different times and places"

Indian culture is plural and fluid. From the day 1 when an Indian is born he/ she has to assimilate, flourish and thrive in this environment. When one goes to the U.S. it is an extension of being able to assimilate and succeed in a different world. The novel begins in 1968 when Ashima's anxiety over giving birth and rearing up the child and her Indian ethnicity reminds her of the conventional customs of the Indian Bengali culture: "...women go home to their parents to give birth, away from husbands and in-laws and household cares..."(p.4). Also her recollection of the lullaby from the Bengali songs, Ashmia saying "Dida I'm coming" at the time of departure from India instead of good-bye, her wearing traditional saris undoubtedly shows that it was hard to get rid of the Bengali social conventions for the first generation immigrants like Ashima. Similarly, their preference for the Indian Bengali food and in contrary Gogol-Sonia's preference for the American cuisine is critically examined: "Gogol savours each mouthful, aware that for the next eight months nothing will taste quite the same" (p.81).

Here the novelist very well portrays the league in which we Indians get stuck into. Jhumpa shows that the immigrants in their enthusiasm to stick to their own cultural belief and customs gradually try to imbibe the cultural ways of the host country too. Ashima teaches Gogol 'to memorize a four line children poem by Tagore, names of deities at the same time when she goes to sleep in the afternoon she switches the television to channel -2 and tells Gogol to watch 'sesame street' and the electronic company "in order to keep up with the English he uses at nursery school" (p.54). Gogol and Sonali think about their visit to Calcutta as:

"Every few weeks there is a different bed to sleep in, another family to live with, and a new schedule to learn". This way I can say that Ashima could not understand the strategy of cultural sharing vis a vis survival in a new environment. She was at a loss to understand that Gogol, Sonia and Moushumi are obvious to be attached with the USA, their birth place. As the second generation usually adhere to their birth land.

Again in Indian judgment good names represent dignified and enlightened qualities. Pet names are sometimes meaningless and silly. The title *The Namesake* reflects the struggle Gogol Ganguli goes through to identify with his unusual name. Throughout his life Gogol suffers from the uniqueness of his name.

Though at times Gogol wonders about the reason for having such an unusual name, his father harbours no doubts about the appropriateness of the name. To him, Gogol was his saviour because it was a volume of Gogol's writings that he was reading when the terrible train accident took place. Now the readers are taken back in time to 1961 when at around 209 kilometres away from Calcutta, seven bogies derailed at 2:30 in the morning. Ashoke was almost at the verge of losing his life in a train derailment, but to his cognisant it was the book 'A Collection of Nikolai Gogol's Short Stories' and a few pages he clutched in his hands which saved him. With this story in mind, the Ganguli's confront the problem of what to do with their newborn son's name. He desires both a - a good name for the outside world, and a pet name to keep with Bengali tradition. At the time of birth of their son, Gangulis lost the letter in mail sent by Gogol's great grandmother from India bearing new born baby's name. And the letter carrying the good name never arrives, so he starts his life with only with the name familiar to his father 'Gogol' after the name of Russian Novelist.

Now at the time of Gogol's admission to the school under the name of Nikhil, the principal

explains that due to their son's preference, he will be known as Gogol in school. When Gogol's sister is born, the Ganguli's are ready with the name, Sonia. This decision by Gogol made on the first day of kindergarten causes him years of distress as it was his first attempt to reject a dual identity. This change in name and Gogol's going to Yale, rather than following his father's footsteps to MIT, sets up the barriers between Gogol and his family. The distance, both geographically and emotionally, between Gogol and his parents continues to increase. He wants to be American, not Bengali.

Growing up, Gogol finds his name quite unusual, annoyed by the Bengali customs of his parents; he totally embraces American popular culture. The summer before he leaves to attend college at Yale, he officially changes his name to Nikhil. Everyone but his family calls him Nikhil. He also starts dating and chooses girlfriends who are Anglo-American, with completely different backgrounds from his own. He loves Ruth, a white American, his college friend, but their friendship retained for a short period. Soon, he begins a serious Relationship with a girl named 'Maxine'. After a while, Gogol feels as if he is a part of her family, which sounds really nice until you realize this means, he is totally ignoring his own family in order to adopt their lifestyle. Moreover he could feel the sense of independence in her girlfriend's house.

But Gogol is both Indian and American. He constantly struggles to reconcile his dual culture. On one hand, he is fascinated with the free and happy lifestyles of his American girlfriend, Maxine. On the other hand he feels a sense of obligation towards his parents. Like every other immigrant child Gogol's real challenge is to secure an identity in the midst of differences influenced by US lifestyle. Lahri has successfully and precisely portrayed the suppressed psyche of young Indians among the white Britishers. How they cross the threshold into dilemma as to

whether they should remain in a ghetto of old values with least interaction with the majority, or break the barriers and get assimilated with the overwhelming new culture.

To make matters worse, Gogol father dies due to heart attack and during this period of neglect and Gogol is wracked with guilt. He promptly dumps Maxine and his relationship breaks because of Gogol's struggle regarding emotional complications of his father's death. He starts hanging out with his family a lot more. On the other hand, Ashima, after the death of her husband, decides to live for six months in India and Six months in the U.S.A. as she says "I'm feeling just a little alien and uncomfortable, a tinge of not- belonging, in the midst of such welcoming comfort..."

Also Gogol-Sonia's changed behaviour of endeavouring to obey the rules and regulations of the Indian religious ceremony after their father's death: "... it was a Bengali son's duty to shave his head in the wake of a parent's death" (p.179). Yet the escaping thought provides no comfort and satisfaction to them.

After Gogol's breakup, Ashima asked Gogol to develop friendship with Moushumi, the daughter of their friend, due to their shared culture and background. But his marriage proved to be hassled and ultimately breaks as Moushumi starts loving 'Dimitri', a German man. At this time Gogol was very agitated and felt disgraced and rejection too. With Sonia preparing to marry her fiancé, an American named Ben, Gogol is once again alone.

The novel brings out stirring identity of the characters by clash of cultures. Gogol could not assimilate himself with the American culture. The novelist pictures the disgusting realities of racism, prejudice by the unwelcoming society and Gogol is a victim of it. We find the same fact while students from India migrated to Australia, Canada and other developed countries and eventually had to suffer racism. As an immigrant, Gogol is caught between identity crisis

and alienation and as a consequence develops a double vision, a hybrid glance to combat such a marginalized existence. Unlike Jhumpa, Gogol was insecure.

At a party on Christmas Eve, Gogol finds the unread book that his father had presented him on his 14th birthday. He turns to read the first story 'The Overcoat'. The novel ends with the ideas in Gogol's mind. "The givers and keepers of Gogol's name are far from him now Without people in the world to call him Gogol, no matter how long he lives, Gogol Ganguli will, once and for all, vanish from the lips of loved ones, and so, cease to exist. But after reading the book Gogol comes to accept his name and picks up a collection of the Russian author's stories that his father had given him as a birthday present many years ago. He is nonetheless comforted by the fact that Ashoke, prior to his death, finally told his son why he had chosen that name for him.

Gogol's is a supreme and perfect case of identity crisis. The very issue of identity forms the core of the diasporic consciousness. The moment one becomes an expatriate, he needs to define himself as the new environment compels him to do so. In this attempt of self definition one may either assimilate his identity with his host country thereby severing all ties with his native country, or he may resume his Indianness.

Though the very Indian part of him was very less standardized during his childhood, but it became more and more evident as he enters his youth. At the culmination of the novel, Gogol learns that the answer is not to fully abandon either culture, but to mesh the two together. He does not need to choose either of the cultures. All worse experiences make Gogol a totally disheartened, yet matured individual. He realized that instead of feeling deprived and weak, his self respect should be strengthened. Finally though Gogol had to face many downfalls but the best thing is that he learnt to be happy and he was a proud gentleman standing on his feet.

Through a series of errors occurs in his life, an event that helped shaping many aspects of his life in years to come.

Jhumpa endeavors to acquaint the readers that the cultural affinity with India makes first generation immigrants an alien in USA where they make repeated attempts to transmute and transform their identity. On the other hand Indian diasporic i.e. second generation immigrants vigorously started inventing their caste roots in USA, which their ancestors had lost by crossing the black waters. The cultural turmoil and the appalling delusions of modern times are being presented in nearly all novels that are being written today. The need of the hour is that we should realize that we all socialized differently because we grow up in different communities and come from different cultural backgrounds. What we all should understand is the simple fact that at the core of every culture remains the uploading of basic human values, which is ultimately important. At the conclusion I would say that Lahiri remained successful in constructing and bringing alive the picture of the unknown world that is as much a land of opportunities but more of a reason of conflict and confusion for the diasporic immigrants.

WORKS CITED:

1. Lahiri, Jhumpa. *The Namesake*, Great Britain: Flamingo, 2003.
2. Barringer, F. (2006), Book Review: Jhumpa Lahiri's 'The Namesake', North Carolina: Carolina Review.
3. Salman Rushdie, "Imaginary Homelands", London Review of Books, 7-20, October, 1982, p. 18.
4. Rushdie, Salman. *Imaginary Homelands*, Great Britain. Granta Books, 1991.
5. Mukherjee, Bharati: General introduction
6. <http://www.ask.com>. Jhumpa Lahiri biography

Deptt. in English, S.C.D. Govt. College for boys, Ludhiana

BHARTI MUKHERJEE'S PROTAGONISTS PORTRAYED AS LIVING IN ORIENTAL AND OCCIDENTAL CULTURAL DILEMMA IN EMANCIPATION

Ms. ANAMIKA

Globalisation brought a drastic change in the social setup during the third quarter of Twentieth century and it encouraged the phenomenon of migration, immigration and trans-nationalism. The majority of Canadian and American immigrants hail from the Third World countries. The dearth of respectable and well paid jobs and the yearning for liberation from conventional orthodoxy attracted the Third World immigrants to haven in the "silver pavement and golden roof" (Divakaruni:46) of Canada and America. This expatriation brought with it not only geographical shift of location but also cultural dilemma. The immigrants moving between the two poles of oriental and occidental cultures have given birth to such writings which present social cultural and psychological dualities haunting the mind and consciousness. The nostalgia of their homeland and the cultural affinities haunt the immigrants and they develop the feeling of isolation homelessness and insecurity of existence;

"On the margin of European culture, and alienated from his own, the 'coloured' [...person] is an artifact of colonial history, marginal man par excellence. He is a creature of two worlds, and of none. Thrown by a specific history, he remains stranded on its shores even as it recedes; and what he comes into is not so much a twilight world, as a world of false shadows and false light." (A.Sivanandan Alien Gods 104-18)

Bharti Mukherjee, one of the most committed Indo Canadian writers, portrays her women protagonists to be caught in the conflict of two world ideologies and the prejudices of the

oriental and the occidental; the East and the West. She presents the world of immigrant in her works through the middle class Indian women's plights, sufferings, suffocation and dilemma. In her narratives- dislocation, nostalgia, dilemma of cultural conflict and the faith in Indian moral values and personal relationship are dealt with. She brings forth her purpose in the creation of immigrant women in the following lines;

The kind of women I write about ...are those who are adaptable. We've been raised to please, been trained to be adaptable as wives and that adaptability is working to be woman's advantage when we come over as immigrants. (connel:25)

Bharti Mukherjee presents the dilemma of cultural conflict and sufferings of women surviving in the multi cultural society of America. Her works, earnestly, present the issues of her own cultural location in West Bengal in India, her displacement from her motherland to Canada where she didn't get the fame of a writer and was instead overexposed as a racial minority and her final settlement in USA. In most of her works, the dilemma of belongingness is a matter of pain and agony, which explores the problems of nationality, location, identity and historical memory in Canada. In Indian society females are brought up in such a manner that they try to fulfill their desires within the walls of domesticity. They are considered the representatives of the virtues of love, sacrifice, dedication and morality. Mukherjee's female protagonists constantly suffer for their faith in religion, morality and strong

bonding of personal relationships against the practicality and professionalism of American society. Through her writings she tries to present Indian women caught in the dilemma of identities, an unresolved knot of past and present and their painful awareness of distinction between oriental and occidental cultures.

The Tiger's Daughter has been rated as her elegant first novel and is considered to be written skillfully. During her interview with Sybil Steinberg, Bharti said about her first effort; "It is the wisest of my novels in the sense I was between both worlds. I was detached enough from India so that I could look back with affection and irony, but I didn't know America long enough to feel any conflict. I was like a bridge poised between two worlds"

Bharti's writings have presented forth a distinguishable movement towards Americanization in style as well as in protagonists' adaptation of a country that allows them to live their own life, free from the rigid and feudalistic traditions of their native past. The Tiger's Daughter captures an opposite direction with the return to India of Tara, twenty two years old daughter of a wealthy and prominent Bengali Brahmin. Tara Banerjee Cartwright goes to the United States for higher education. There she marries David, an American and settles down in New York. After seven years she returns to Calcutta to locate her 'home,' to trace her cultural roots and to reclaim her inherited identity as the daughter of Bengal Tiger and as the granddaughter of Hari Lal Banerjee of Pachapara. She moves like a shuttlecock between Calcutta and New York, bestriding Indian and American cultures. In the process she is caught between two worlds, two ideologies, two ways of life and two ways of encountering reality. Matthew Arnold's famous lines aptly describe Tara's dilemma in this novel:

"Wandering between two worlds

One dead, the other powerless to be born,
With nowhere to rest my head"

Tara returns to India after a period of seven

years. Having married David Cartwright, a writer, she is now Tara Banerjee Cartwright. When she comes back to India, she finds it difficult to relate to her relatives in Bombay and Calcutta. They treat her like a foreigner. Though her parents and relatives accept her with her acquired foreignness, Tara feels a sense of insecurity. Even at home she feels uncomfortable to play the role of a typical Bengali Brahmin as she forgets the steps followed in religious rituals. She feels out of place in the company of her Indian friends every time she meets them at the Catelli-Continental. She is a dispossessed exile in both the worlds. Though she has lived in America for seven years, married to an American and has an American passport, yet she is not keen to belong to America. A close look at Tara's days in the United States helps us understand her uprooted condition. She complains of homesickness in her letters to her parents. She realizes that she has become rootless and out of place both in India and America.

In her novel 'Wife,' Bharti Mukherjee portrays a Bengali Indian wife, Dimple who migrates to America in the anticipation of more comfortable, luxurious, glamorous and settled life, and in the hope of getting rid of the Bengali traditions where the consciousness of conventions is a hurdle to the identity and freedom of Indian woman. However, Dimple's dreams shatter when she finds herself insecure, lonely and isolated in the highly technical society of America. Her resistance against the multi-cultural society of America makes her crazy to the extent that she loses control over her own conscious self and in a state of temporary insanity kills her own husband Amit. Prof. Asnani evaluates Dimple's problem as 'dilemma' of cultural conflict. He writes:

"Dimple is entrapped in a dilemma of tension between American culture and society and traditional constraints surrounding an Indian wife, between feminist desire to be assertive and independent and Indian need to be submissive and self effacing. (Asnani: 42)"

The emotional collapse and the shattered self of Dimple is the proof of her failure to achieve "wholeness" in alien cultural surroundings. In her marriage with Amit, a software engineer, and subsequent migration to California, she seeks the possibilities of independent life against the tradition bound life in Calcutta. However her separation from her motherland brings isolation and loneliness in her life and generates the feeling of 'rootlessness' and casts its distressing shadows on her personal relationship. Amit's over involvement in his office work leaves Dimple discontented and nervous. The difference between Amit and Dimple is that she migrates with the values of typical Indian wife and confines all her hopes in Amit while he migrates with the dreams of professional success. In the second part of the novel, immigration and the occidental and oriental cultural dilemma determine the directions of her consciousness. Staying in California, she realizes that marriage has betrayed her by not providing her with all the glittering things she had imagined. She wants to enjoy luxury, freedom, parties and alluring male companionship but every time she is apprehensive about American ways. The dearth of command over the language, high tech ways of living and failure to develop alternative identity make her weak, nervous and helpless. The cultural contrast of the East and the West makes her face ridicule and humiliation. She feels how she could have survived in a country where "every woman was a stranger, where she felt different, ignorant and exposed to ridicule in the elevator" (Wife: 112). In the third part of the novel, she suffers trauma, becomes crazy to reconcile her dreams and reality.

In her novel 'Jasmine,' Mukherjee portrays a young, humble and semi educated Punjabi girl Jasmine, who passes through the trauma of existence amid the oriental and occidental cultural dilemma. She illegally travels to the United States after her husband is murdered by religious fanatics. Named Jyoti at birth, she is transformed in each of her new locations, moving from Punjab

to Florida to New York to Iowa and finally to California. For each new transformation, she also acquires a new name: Jasmine, Jazzy, Jase and Jane. The main backdrop of the novel is the mixing of the East and the West presented through the life of Jasmine.

Born in Hasnapur in India, Jasmine has the distinction of being the most beautiful and clever in the family. She is seen against the backdrop of the rigid and patriarchal Indian society in which her life is controlled and dominated by her father and brothers who record female as follows, "village girls are cattle; whichever way you lead them, that is the way they will go" (Jas-46)

However, Jasmine wants a modern and educated husband who does not believe in dowries and traditions, and thus finds a US based modern-thinking man, Prakash who encourages Jasmine to study English, and symbolically gives Jasmine a new name Jasmine, and a new life. Here starts her transformation from a village girl under the shelter of her father and brothers to a wife of an American traditional, liberal husband who gives her freedom to fulfill her desires. But Jasmine's happiness is short-lived. She is widowed and returns to her family. She has to now choose between the rigid traditions of her family and lead a dull life of a widow, or continue to live the life of Jasmine in America. Jasmine attempts to come to terms with the two worlds- the oriental and the occidental; one of "nativity" and the other as an "immigrant". In her path she faces many problems including rape and eventually returns to the position of a health professional through a series of jobs. Here in this context the unity between the First and the Third World is shown to be in the treatment of women as subordinate in both countries.

To conclude, Mukherjee's contribution to diasporic literature lies in her significant analysis of cultural collision in her works such as *The Tiger's Daughter*, *Wife* and *Jasmine*. She writes about the female protagonists who have left their

countries for various reasons and come to America with their hopes, their aspirations, their struggles, their alienation, their pain and trauma. Their native feminine sensibility and moral consciousness is at a continuous war with their hybrid surroundings. Tara, Dimple and Jasmine accept immigration as a mode of emancipation, but the adversities faced during the process of settlement thrust them in the state of oblivion in which they lose their individuality, self respect and belongingness. The fact cannot be denied that in spite of vague view and distorted images, Bharti Mukherjee's women appear as pillars of cultural heritage.

Works cited:

1. Agarwal, Beena. Women Writers And Indian Diaspora, New Delhi: Authors press, 2011.
2. Stephen, M. Stanley. "Bharti Mukherjee: A Study IN Immigrant Sensibility" New Delhi: Prestige Books, 2010.
3. Tandon, Sushma. "Bharti Mukherjee's Fiction: A Perspective" New Delhi: Sarup And Sons, 2004.
4. Sivanandan, A. : 'Alien Gods'. (Ed) Bhiku Parekh. "Colour, Culture and Consciousness : Immigrant Intellectuals in Britain". London: George Allen and Unwin, 1974. (104-18).
5. Ray, Aparajita. "Immigrant Identity In Bharti Mukherjee's Novels" Muse India 53; Jan-Feb 2014.
6. Divakaruni, Chitra Banerjee. Unknown Error of Our Lives, New York: Double Day a Division of Random House Inc. 2001.
7. Conell, Michael et al. " An Interview With Bharti Mukherjee", Iowa Review, 20:3, 1990.
8. Asnani, Shyam m.(ed.). "Identity Crises in the No Where Man and Wife" Language Forum 1-2, Jan-Dec.

Asst. Prof., P.G. DEPTT. OF ENGLISH, SCD GOVT. COLLEGE, LUDHIANA

Reaming the part of page no. 102

emotionally intimate. There is a successful love affair between them.

Lawrence looks on love not as an end in itself but as a means of growth and refinement of consciousness. Love gives satisfaction and external happiness and in such a state, man finds himself blessed and satisfied. Lawrence believes that fulfilment comes through a proper reconciliation of being. So men and women should be put together. It is that stage where all differences come to a big zero and are united as a single whole while minimizing all their disparities and incompleteness so love becomes the ideal and the guiding principle of life.

References:

1. F.R. Leavis, Thought, Words and Creativity : Art and Thought in Lawrence (London : Chatto windus, 1976), P. 66
2. Arnold Kettle, An Introduction to English Novel Vol.II (London : Hutchinson, 1976), P. 115
3. Graham Hough, The Dark Sun : A study of D.H. Lawrence (Duckworth : Compton Printing Ltd. , 1976) P. 64
4. Lawrence, The Rainbow, P. 39
5. Lawrence, The Rainbow, P. 41
6. Ibid., P. 40
7. Lawrence, The Rainbow, P. 111
8. Lawrence, The Rainbow, P. 145
9. Carol Dix, Lawrence and Women (London : The Macmillan Press Ltd., 1980) P. 36
10. Ibid., P. 179
11. Ibid., P. 473
12. Mark Spike, The Love Ethic of D.H. Lawrence (London : Dennis Dobson, 1958), P. 134
13. Women in Love, P. 18
14. Ibid., P. 164
15. Yudhishtar, Conflict in the Novels of D.H. Lawrence (Edinburgh : Oliver & Byod, 1969), P.170

H.No. 1912 A, Sector 16-17, Hisar

Capturing the Quintessential pathos at the intersection of cultures in Kiran Desai's "The Inheritance of Loss"

POOJA KAPOOR

Among the new crop of women writers of the diaspora, Kiran Desai has carved a niche for herself by capturing the quintessential pathos found at the intersection of cultures. Her novel "The Inheritance of Loss" essentially captures the dichotomy and duality in the lives caught in the interaction between East and West. Brought to life on a literary canvass through the many lively characters and myriad emotions, this saga of psychological trauma and despondency adds a socio cultural immediacy to the issue of existential crises that affect every conceivable aspect of an immigrant's subaltern life. Kiran Desai like her mother Anita Desai, enamoured of undertaking journeys in multiple forms tries to explore the existential strains permeating the lives of her characters.

Kiran Desai leads a motley pack of luminous new age women writers who have reshaped aesthetic sensibilities among a generation of readers through their sensitive treatment of trans-cultural issues. She reveals by bringing to life the pathos of crises, commonly emanating from the subaltern lives perched precariously on the margins of a crossover life. Postmodern diasporic strains of alienation, loss, despondency and resignation are her signature themes and in this sense her most representative work is "Inheritance of Loss". It captures the banality of immigrant lives that ostensibly hold out promises of material comfort and plenitude, but sadly fails to provide basic feel and texture of life. Kiran Desai successfully sums up the gravity of existential crises that stalk an immigrant's shadowy marginalised life.

Kiran Desai's literary paraphernalia shows unmistakable imprints of her illustrious mother, Anita Desai. Taking over the mantle of her illustrious mother, Kiran Desai had quite an impressive debut with her critically acclaimed book, "Hullabaloo in The Guava Orchard". Apart from showing glimpses of her penchant for infusing existential elements into the rigmarole of characterisation, she also pitched forth themes of diaspora such as migration, living between two worlds and between past and present. Treading the literary trail of great Indian writers such as V.S.Naipaul and her own mother, Anita Desai, she strives to unravel the chaos and despondency of the post colonial ilk. So there is no mistaking the literary influences on Desai's exploration of postcolonial chaos and despair. At the outset in the novel, the author narrates an animated discussion on "Bend in the River", V.S.Naipaul's novel records a riveting account of a conservative Africa's encounter with the modern world. Further, in the novel Inheritance of Loss, Jemubhai's plight finds a matching allusion in Anita Desai's Nanda Kaul in "Fire on The Mountain" who wanted to lead a secluded life, unhindered by others. Even early on, they don't take the disturbance of their solitude kindly by their grand children who were bent on ruining their solitary existence. However they gradually get accustomed to the fact that bonding with their grand children is necessary and relaxing.

Her magnum opus, 'Inheritance of Loss', albeit, after a hiatus of seven years makes a detour of a plethora of issues dotting her work with themes such as, globalisation, multi-

culturalism, inequality, fundamentalism and terrorist violence and issues related to loss of identity. The issues and conflicts mentioned in the novel are portrayed in a subtle and intriguing through the central characters.

Kiran Desai juxtaposes underprivileged diasporic subjects in India and the USA in both the colonial past and the global present, thereby challenging its readers to develop a larger perspective on historical and global power asymmetries and minority struggles for recognition. The juxtaposition between the Nepali diaspora in India and Indian diaspora in USA prompts reader's reflection on the historical patterns inherent in past and present migrations and the material histories of diasporic groups. Readers are invited to shuttle between the novel's different times and locales and view India via its relation to England and USA and vice versa. Thus through its structure, plot and the central characters, the novel tells the shared, global story of displacement and dispossession.

Desai uses a fragmentary structure that shifts across time and space to suggest that immigration and diaspora are predicated on a rift between home and host land. Desai, by narrating the experiences of cross-ethnic Diasporas in the context of global capitalism, Desai expands the generic boundaries of Indian diasporic writing in English.

'The Inheritance of Loss' spans two continents and three generations. The story moves between New York and Kalimpong. Full of pathos and tenderness, the novel presents its characters as ultimately frail human beings struggling in search of love and happiness. Kiran Desai, by setting her narrative in two parallel venues- New York of contemporary America and Kalimpong, a small Indian town at the foothills of Mount Kanchenjunga in the Himalayan ranges- has brought into relief the commonality of problems of two hub of human insurgence, one tactic and the other vocal and strident. The aptness of the poem by Jorge Luis Borges, "The Boast of Quietness" which Kiran Desai has chosen as epigraph for 'Inheritance of Loss' adds

immeasurably to the impact of the depiction of immigrants in the narrative. These immigrants have lost their homelands and have lost their identity and cannot hope to arrive anywhere.

Set in 1980 of India, 'The Inheritance of Loss' recounts an intensely absorbing story. At its centre, is a family of a retired judge and widower, Jemubhai Patel. In Kalimpong, a hill station in Himalayan foothills, the retired judge, who was once a student of the Cambridge University presently lives with his sixteen year old orphaned grand-daughter, Sai. Jemubhai lives in Cho Oyu, a large dilapidated house built by a Scotman but now owned by him. Jemu lives in this house with his chatty cook, Nandu whose only son Biju works as an illegal immigrant in a restaurant in New York to fulfil the materialistic longing for prosperity. It is ironic that while the cook always thinks proudly of his son doing job in New York, a metropolis in America, the son more often sadly remembers his father and his childhood days in a village in India. As for Sai, she passionately falls in love with her mathematics tutor, Gyan, a Nepali Gorkha. But then Gyan gets involved in the violent Nepali insurgency for autonomy of Gorkhaland and so is forced to back out from his commitment of love. After undergoing an agonising experience in New York restaurants as a drab immigrant and embittered with American dream of success, Biju eventually decides to return to his father in India with a humble dream of buying a taxi and a home of his own. Nonetheless on his way home from Calcutta, somewhere between Siliguri and Kalimpong, the GNLFF (Gorkha National Liberation Front) rob him of all his belongings- his savings, wallet, shoes, clothes and belts. Though Biju is united to his father at the end, the novel leaves a deep impact on readers mind.

Thus, In Inheritance of Loss, Kiran Desai has tried to capture what it means to live between East and West and what it means to be an immigrant. The story of Inheritance of Loss predominantly moves in Kalimpong in India and New York in America. The thoughts, actions, aspirations, dreams, memories and sufferings of

the two main protagonists, Jemubhai and Biju, as migrants in London and New York respectively, represent the expatriate consciousness. Biju goes to America to fulfil his "lack", to be in position of power. And that's why he wanted to be like "angrez ki tarhe" (Desai 105). Fannon has also pointed out "the white man is not only the other but also the master "

But U.S. Biju found that he is possessed of an awe of white people and realises the snag of being in alien culture which is not too kindly to him. In America, Biju has to eke out an existence as an undocumented worker. Stumbling from one low-paid restaurant job to another, living in squalor with groups of other immigrant men, spurred by his father, Biju had come to America to realise his American dream, but the reality had something else in store for him. He recognises that, "It's a whole world of basement kitchens"

And in exasperation dubs it, as 'they call this first world???' Ekdum Bekaar!"

In New York Biju feels tormented by the commercialism, rampant racism and rapacious ruin perpetuated by the neo-colonial exploitation. In Biju, Kiran Desai brings out the agonies of immigrants who crave for all they have lost. He is a representative of those poor illegal immigrants who spend much of their time in search of a better living in an alien land. Biju is that poor fellow who is tossed around mercilessly from one job to another and had the ignominy of doing all sorts of menial drudgery as cook, vegetable chopper, dishwasher, bearer, food carrier and what not. The poignancy of this has been expressed in the following lines...

'But I WAS so hard and YET there were so many here. It was terribly, terribly hard. Millions risked death, were humiliated, hated, lost their families - YET there were so many here (189)' He eventually comes back to India robbed of his belongings. All his NRI dreams of "holding green cards and passportsdollars me kamaenge, pum, pum pum "(Desai 298) comes to naught. But yet the reader finds satisfaction in the union of father and son as at last Biju feels safe and at peace compared to his lonely life in New York as

a waiter moving from one restaurant kitchen to another.

Another protagonist Jemubhai Patel is not an Anglicised Gujarati judge, who could assimilate into the cultures of his origin because of his desire to mimic the English colonial identity, nor could he fully don the much coveted western identity. His convent educated grand-daughter, Sai Mistry, is his true heir in that she is a misfit in both the East and the West, and the life at Kalimpong fills her with fear of being left on the shelf. Their cook Panna Lal, grudgingly works for the judge and waits to be liberated by his son, Biju, who, he believes will make it big in America. However Biju fails to become a successful immigrant worker in U.S restaurants and returns home to further disappointments in Kalimpong.

Their lives are intertwined with that of Gyan, a Nepali tutor, whose love for modernity draws him to Sai but, he is restrained by his ethnic realities that remind him, time and again that his life is one of missed opportunities. There are other minor characters who represent a cross section of society such as elites, Nonita and Lolita, who obsessively cling to their past upper class lives of refinement., the Swiss Father Booty who settles in Kalimpong in order to open his dream dairy farm, and his companion Uncle Potty, with whom he drinks every evening, on the other hand there is Mrs. Sen whose life's only hope is daughter Mun Mun, who has managed to get a green card in America.

Jemu, was a brilliant student in school and got scholarship in college. After the completion of his graduation, he goes to England for higher education. Jemu's father didn't have enough money to send his son to England, so he took loan at high rate of interest. In London, Jemu starts living in the house of one Mrs Rice, but feels acutely lonely and sad. In a completely alien west world he feels hesitant and timid to go out and talk and deal with people comfortably. Jemu actually remains conscious of his brown color, Indian ascents, pronunciation and above all the despising as well as the discriminatory racial looks of the whites. In him, Kiran Desai has very

precisely portrayed their suppressed psyche of a young Indian among the white Britishers.

Other minor character who in some way share the sense of loss alluded to the title in the novel include Father Borty (Swiss priest who runs an unlicensed dairy.) and Uncle Potty. Everyone is in some way alienated by their environments and experiences, clinging on to aspects of the colonial past while not belonging entirely to the "old ways" and not filling it with the new. Desai explores the pain of the immigrant, and the unfairness of a world in which one side travels to be a servant and the other side travels to be treated like a king. Longing is perhaps the only thing the characters in this novel do best, the long for home, love and acceptance, but rarely achieve it. Sai and Gyan inherit the loss, referred to in the title, as do the cook and Biju. What Kiran Desai ultimately highlights is not just individual experiences but rather the relations of recognition between immigrants, exile and foreigners Kiran Desai's realistic portrayal of life on two continents, diasporic on multiple levels, demonstrates a deep concern for human condition.

In one narrative thread, Desai depicts postcolonial India via political events taking place in Kalimpong. The insurgent nationalism of the Indian Nepali's, who are, "fed up with being treated like the minority in a place where they were the majority"(10) enables her to map the pervasive effects of both colonialism and globalization. The majority Indian - Nepalese were in no mood to let things lie down for the reason they being subjected to minority position. Gyan, not ready to bask in Dai's privileged life, connects to the running sentiment of raising a fist to authority, eventually echoing the larger a crowd of angry ethnic Nepalese. Juxtaposing two different kinds of struggles hard to survive, and the other, a steadily mounting insurgency of men and guns in the hills of Kalimpong, Desai deftly delineates a perplexing world along the ridges of globalisation.

At another plane the novel centres around the love story between a boy and a girl, between a father and his son, and a grandfather and his

grand-daughter where empathy and affection are clearly observed, but the severity of existential dilemmas and riddles cloud all their good intentions and mar the beauty of their living. On a larger canvas, however, the novel talks about a certain set of people who are rootless and unattached to any particular way of life, whose lives are somewhat torn between a modern world and their past.

The crux of inheritance of loss lies in its exploration of the ambivalence that rules the national discourse about globalisation. It enlivens the sordid vicissitudes of life of the immigrant Indian. The cross over Indian conjures up a rosy, affluent and material prosperity before sailing out to the other land. However as things pan out in real life, they realise that the best way to live is to do nothing but to perfect the art of compromise. The immigrant's life gets lucklessly crossed between two cultures so dissimilar in values and ideals. Actually displacement no longer remains physical. Rather it turns psychological as they face grave dangers to their very identities and are left with little option but to embrace dualities in every sphere of their lives. Hence, a sense of displacement is palpable, desire for the return to their roots is desirable, feeling of nostalgia, remembrance of the homeland with a sense of loss are cherish able, so true of the larger diaspora.

The Inheritance of Loss, is a real narrative stitched together in a maze of time zones. It is indeed a representative of the diasporic consciousness, true to its post colonial pedigree. This stupendous work, through sheer audacity and disregard for the established canons of writing, dazzles with its magic realism.. Kiran Desai delves into the unfathomable recesses of human psyche with the sensitivity of a poet. It thus captures the quintessential diasporic strain of probing into the finer intricacies of human relations. To sum up, in this novel Desai has proved her mettle and lineage as a sensitive chronicler by poignantly capturing the vulnerability of modern man and his subaltern existence in an unequal word order.

See page no . 100

Existential Crisis of Identity in Kiran Desai (A study of 'The Inheritance of Loss')

Dr. NEELAM BHARDWAJ

Kiran Desai is an author of the new breed as the daughter of the noted writer Anita Desai, Kiran has inherited considerable gains in the world of fiction. She is a confident and talented writer. Desai has secured her place with the list of great contemporary Indian authors exploring life and society in India and elsewhere. Kiran Desai shows life's humour and brutality, its whimsy and its harshness, and its delicate emotions and passionate commitments in her novels. She is the product of multi culturalism and post-colonialism, an immigrant well-read, well-bred, whose rootlessness itself has become a kind of shelter.

Unlike most of her contemporaries, Kiran Desai explicitly juxtaposes the lives of the rich and poor, attempting to fill what seems a puzzling gape in South Asian Writing. Desai has won a great deal of praise for her two novels, 'Hullaballo in the Guava Orchard' (1998) and 'The Inheritance of Loss' (2006).

Kiran Desai examines subjects like home, identity, dispossessions, shrinking and fading borders, racism, class disparities, injustice, inequality and aggression. The emotional territory with the ties to more than one country is a familiar landscape to her. She offers a sharp view of globalization, multi culturalism, immigrant problems and economic disparities. Critics have noted that how her simple unpretentious style and manner of speaking have underscored her opinion of hybridization and surrender to an adopted land.

Her much heralded debut novel 'Hullaballo in the Guava Orchard' (1998) contains the most fashionable ingredients of contemporary Indian English fiction. In this dazzling novel, she tells a hilarious and poignant story of life, love and family

relationships. The book also contains passages of great beauty and Desai has a deft, evocative way of using words.

Her 'The Inheritance of Loss' (2006) springs with many splendoured colours of life in the North-Eastern part of India. This novel is set in the mid 1980s with a backdrop of Nepal and Tibet. This is a tragicomedy and a dark reminder of how insurgency, extremism are threatening to wreck a peaceful region of India. This is set partly in India and partly in the USA. In fact, the threat of violence looms large throughout the novel. On the whole, 'The Inheritance of Loss' is a novel of depth and complexity, filled with multiple characters and beautiful lyrical prose which explores such themes as colonialism, illegal immigration and political strife. This novel allows the reader to gain better understanding of the vast cultural rifts between the people. Desai uncovers the pain of being an illegal immigrant by allowing the reader to see through Biju's eyes as he struggles to find work, sleeps in a basement with rats and longs to return to his homeland. Desai has written a novel which fully encompasses the Indian experience. This way of leaving family for work had condemned them over several generations to have their hearts always in other places, their minds thinking about people elsewhere, they could never be in a single existence at one time.

All her characters experience loss and seek fulfillment as the tale unravels. The judge, an unhappy man, has little love in his heart for anyone except his dog. He is filled with hatred for other Indians. He wishes if he had been born English. Biju also experiences the ambivalence for his own

people which seems spawned by his experience of rejection and racism.

The novel truly depicts the sad lives of those 'tribes' which came to the US for the first time and are desperate to make both ends meet. Biju is willing to undergo any torment to make ends meet. His friend Saeed Saeed is a cheerful character from Zanzibar, who is tormented by friends from his home country. Biju's condition is also not different. He also undergoes torments by his father from India, who recommends to him stray wastrels who want to immigrate to the US from India. Biju's father has sent his only son to America to seek a better life. The cook hopes for contentment and dignity which he believes will come with Biju's success. Biju's long quest, through an inferno of Manhattan basement kitchens, for the holy grail of a green card, reflects his creators urge to replace myth with truth in the stories of success. For all the dash and fire of its language, the novel's frenzied New York sections reveal a bitter core, the past few years of panic and aggression that have made Kiran Desai to feel more of an Indian in America. She uncovers the pain of being an illegal immigrant by allowing the reader to see through Biju's eyes as he struggles to find work, sleeps in a basement with rats nibbling on his hair, and finally longs for returning to his homeland.

Kiran Desai touches on such aspects as how the characters sought out their dreams and future by looking outside their culture, religion and country which is exemplified at the end of the novel when Biju contemplates the steady stream of immigration from India to America.

Kiran Desai has explored the pain of the immigrant and the unfairness of a world in which, as one character puts it, "One side travels to be a servant, and the other side travels to be treated like a king." (The Inheritance of Loss 269). It is clearly the experience of living between the cultures and the challenge defining an identity as an immigrant which has given Kiran Desai the subject-matter of 'The Inheritance of Loss'.

Indeed, the fanatical insistence on place and belonging is one way in which Desai's characters

handle their frustrating and humiliating encounters with a world that continually assaults their notion of order and dignity. These characters are bound by the common experience of alienation, affected by the West, through which their adverse positions in world become all too clarified. Kiran Desai speaks of her own hybrid identity that contains both extraordinary richness and terribly difficult perspective. In the novel, the judge's journey to racist England, as a student, follows the agonizing process by which he becomes alien even to himself. He feels barely human and leaps when touched on the arm as if from an unbearable intimacy. On his return to India, he finds himself despising his culture, family and inadvertently attempting to colonize his backward wife. In this manner Kiran Desai carefully threads the private and personal into a wider political network.

The isolation that Biju, the cook's son feels as an illegal immigrant is coupled with his father's alternating sorrow and joy that his son is in America. Similarly, Sai's grandfather recounts his past as how his English education made him a misfit at home and abroad. Set against the backdrop of alienation, Sai's story that of a young girl's first heart break put the rest in perspective. Thus the story of 'The Inheritance of Loss' reveals a seamy underbelly of immigration to the U.S. as well as the emotional toll that colonialism continues to take on India. U.S.A. for Indian is a place of alienation, a place for accumulating wealth. India, however, is no utopia. India is a brooding country where submerged forces of cultural discontent move slowly but relentlessly.

Desai's characters are also constantly aware of the fine balance between those with and without power and influence as the identity of each rests over so delicately on the other. Kiran Desai, often, subtly sets characters against one another, and their differences become increasingly threatening when exposed. This is perhaps apparent in the eventual toxicity and disintegration of Gyan and Sai's relationship.

Kiran Desai's novel 'The Inheritance of Loss', as the name suggests, is about loss, but the quality of this loss remains undefined, elusive and

wistful. Loss in Desai's novel is something that evokes nostalgia and pain but it is also deemed necessary. Loss appears in her description of the immigrant experience, the Gorkha demand for a homeland and also the growing love between Gyan and Sai. The loss, Desai speaks of, is difficult to describe, an experience akin to a pang in the heart but Desai does this brilliantly. The impulse to immigrate and the ensuing crises of identity is automatically rendered in concrete and telling situations by Kiran Desai.

The Indian landscape in her novel 'The Inheritance of Loss' discloses a very different sort of scene. Class hostility in 'The Inheritance of Loss' is the offspring of British Colonialism in India. The perspective that has been offered by Desai is that because of this British Colonialism, people have to bow before the inevitable injustice. Another perspective Desai offers is that even the privileged ones pay a terribly high price. The culture to study abroad has been beautifully presented through the character of judge in the story, whose life is virtually empty except for his beloved dog. A counterpoint to the judge's story is that of the cook's son, in the promised land of the United states, who loaded down by his father's dream of prosperity faces a brutal reality of slave-wage jobs. He undergoes constant alienating struggle and feels desperately lonely. Again and again, he wishes to be united with his father and the countryside he loves.

There are many harsh realities in this novel, the complexities of which the author handles deftly to make them intellectually and emotionally available to the reader. There are also great movements of humour, charm and resolution that offset the pain of understanding. Kiran Desai manages to combine seriousness with real humour.

Kiran Desai probes deep into the important aspect of globalization - the ever intensifying web of personal and economic connections among people around the world. The inter connectedness, Desai knows, cannot only bring excitement and discovery, but also loneliness, alienation and loss. Kiran Desai upsets the popular conception of India

as a place of family, community, a great sense of having roots that go back generations. Desai's novel 'The Inheritance of Loss' brings with the richness found in the remotest corner of the world, but its depiction of globalization has a dark side too. The illegal immigrant, Biju, experiences loneliness and isolation in one of the world's busiest cities. Desai knows from her own life that the immigrant life can be a profoundly lonely experience.

Kiran Desai writes about different stratas of society, their neuroses, their struggles and the tenuous hopes of those who do not have stable income or identities. Desai's prose is wonderful which leaves us smelling, tasting and inhabiting the part of India she describes. Desai writes an elegant and thoughtful study of families, the losses each member must confront alone, and the lies each character tells himself to make memories of the past more palatable. As Desai explores their aspirations, the hopes and expectations of their families, and their disconnection with their roots, she also creates vivid pictures of friends and relatives who surround them, creating a vibrant picture of a broad cross-section of society. As the lives of these characters unfold in flashbacks, the reader learns of their personal struggles, their connections to a colonial past and the injustices, inflicted by them upon others. The social and political history of India is revealed subtly through the experiences of these characters.

Unlike most of her contemporaries, Desai explicitly juxtaposes the lives of rich and poor, attempting to fill what seems a puzzling gape in South-Asian writing. Thus she explores a no. of interesting themes such as identity, opportunity, justice, the generation gape, the schizophrenia of the immigrant, anglophile culture, the difficulty of spanning differences between people across time and space simultaneously.

Desai writes referring to centuries of subjection by the economic and cultural power of the West. Almost all of her characters have been stunted by their encounters with the West. As a student isolated in England, the judge feels barely

human on the arm as if from an unbearable intimacy. The judge is one of those ridiculous Indians, whose Anglophile can only turn into self hatred. These Indians are also a part of an unwanted anachronism in post colonial India, where long suppressed people have begun to awaken to their dereliction.

Kiran Desai takes a skeptical view of the West's consumer driven multiculturalism. In fact, this novel seems to argue that such multiculturalism, confined to the western metropolis and academe, does not begin to address the cause of extremism and violence in the modern world. It suggests that economic globalization can become a route prosperity for the downtrodden. The loss inherited by the global subalterns is too complex to be sort out in the emerging world with a severely limited level playing field. Sai's brief love affair with a Nepali youth, Gyan, ends in mutual recriminations as he joins the group of Nepalese insurgents. The judge turns out to be a part of the veritable anachronism with his colonial mindset in post colonial India. Biju, the cook's son, having failed to return to India in a disenchanted state, only to be robbed off his hard earned acquisitions by the barbarians in his own backyard. The novel ends in a dramatic denouement where the sweet darkness of home brings its trauma, shock and deprivation.

In a linear narrative, with shifts in time, and brief flashbacks, Desai has made a brilliant attempt at delineating the highly stratified society in both India and America. The impulse to

immigrate and the ensuing crisis of identity is automatically rendered in concrete and telling situations by Kiran Desai in her novels.

To sum up, the real charm of Kiran Desai's novels lies in its atmospheric descriptions and in quirky characters with whom the reader quickly identifies. Desai is a careful observer of behavior, both in India and in the U.S. with a fine eye for detail which brings her narrative and characters to life. She presents details dispassionately, illustrating her themes without making moral judgments about her characters. There are no saints or villains, just ordinary people trying to lead the best lives they can, using the resources which are available to them. Intensely human, Desai's character like people from all cultures, make huge sacrifices for their children, behave cruelly towards people they love, reject traditional ways of life and old values, rediscover what is important to them, suffer at the hands of faceless government officials, learn, grow and make decisions, sometimes ill-considered about their lives.

WORKS CITED:

1. Desai, Kiran. *The Inheritance of Loss*. New Delhi: Penguin Group, 2006
2. Vidimos, Robin. "The Inheritance of Loss". *Denver Post*.
3. Tonkin, Boyd. "Kiran Desai: Daughter of the Diaspora". *The Independent*, London.
4. Smith, Dinitia. "Kiran Desai's India and Its Great Divide". *The New York Times*. Oct 24, 2006.

*Assistant Professor, Dept. of English,
S.C.D. Govt. Coilege, Ludhiana.*